लेखक की अन्य पुस्तकें

कहानी-संग्रह	...	रेखाएं लहरें और परछाइयां
		देवताओं की मूर्तियां
		खेल खिलौने
उपन्यास	...	प्रेत बोलते हैं
		उखड़े हुए लोग
		कुलटा
अनुवाद	...	चेखव के सर्वश्रेष्ठ नाटक
		प्रथम प्रेम (तुर्गनेव)
		वसन्त-प्लावन ,,
		युगनेता (लर्मन्तोव)
इन्टरव्यू	...	एण्टन चेखव : एक इण्टरव्यू

तीन नई पुस्तकें तैयारी में

शह और मात (उपन्यास)
नया उपन्यास (आलोचना)
आवाज़ तेरी है (कविताएं)

एक कमज़ोर लड़की की कहानी

एक कमज़ोर लड़की की कहानी

भूमिका

पाठको, इसमें मैंने सुखान्त और दुखान्त दोनों प्रकार की रुचि रखने वालों के लिए कहानी कही है। आपमें से बहुतों ने अपनी सच्ची लगन से अपनी किसी पड़ोसिन लड़की से अवश्य ही प्रेम किया होगा, और बहुत सम्भावना है—बहुत क्या निश्चय ही—उस लड़की की शादी आपके देखते-देखते दूसरे के साथ हो गई होगी। तब आप रोये होंगे, मन-ही-मन घुले होंगे और अक्सर आत्महत्या की बात सोचा करते होंगे। लेकिन फिर सभी-कुछ ठीक हो गया होगा। आप अपनी ज़िन्दगी के संघर्षों में नौकरी की तलाश में या ऑफ़िस की फ़ाइलों में खो गए होंगे, लड़की अपने पति के साथ बच्चे पैदा करने में लगी होगी। और दोनों उस बात को बचपन की बात कहकर भूल गए होंगे। बड़े होकर आप अत्यन्त रखवाली रखते होंगे कि कहीं आपका लड़का भी किसी लड़की

से बचपन का यही खेल न खेलने लगे, और आपकी भूतपूर्व प्रेमिका अपनी लड़की को हमेशा अपनी आँखों के आगे रखती होगी कि कहीं वह आप जैसे किसी पड़ोसी लड़के के चक्कर में न उलझ जाय और उसे 'जीवन-सर्वस्व' न समझने लगे, जैसा स्वयं उसने कभी आपको समझा था।

ख़ैर मैं कहानी यहाँ से शुरू करना चाहता हूँ कि प्रेमिका की शादी को हुए बहुत थोड़ा, लगभग दो-तीन साल का, समय बीता है। प्रेमी, सुविधा के लिए उसका नाम प्रमोद मानिए, एक प्रसिद्ध नेता बनकर उसी नगर में आया हुआ है जिसमें प्रेमिका रहती है, लेकिन ठहरा वहाँ नहीं है। फिर भी व्यस्तता में से थोड़ा समय निकालकर, जैसे भी हो, उसका इरादा उससे मिल आने का अवश्य है। वह बैठा सन्ध्या की कार्यकारिणी में पढ़ने के लिए आवश्यक रिपोर्ट तैयार कर रहा है। मन-ही-मन वह प्रतीक्षा कर रहा है कि जिस अधिवेशन में वह आया हुआ है उसके संयोजक से उसने कुछ आँकड़े माँगे थे, वे अभी तक क्यों नहीं आये। उसने उनके पास एक स्वयंसेवक भेजा था और इस समय वह उसी की राह देख रहा है। सुबह के दस बजे हैं, वह पलंग पर बैठा हुआ ही लिख रहा है, अभी जो चाय पीकर चुका है वह खाली प्याला पास में रखा है। सामने का दरवाज़ा बरामदे में खुला है। बरामदे में दरवाज़े तक धूप की एक चौड़ी पट्टी आई हुई है। समय जाड़े का है। एक ऊनी शॉल उसके कन्धों पर लापरवाही से पड़ा है। हाथ में फ़ाउण्टेन-पैन खुला है और उसे पीछे से हल्के-हल्के दाँतों पर ठोककर वह कुछ सोच रहा है। बस, कहानी शुरू करने के लिए इतना काफ़ी है, शेष कहानी के दौरान में आता चलेगा।

कहानी दूसरे महायुद्ध से पहले की है।

कुआँ और गूँजती आवाज़

"हूँ, तो आपने मुझे ज़हर देने के लिए बुलाया है ? मैं आऊँगा। यह जहर भी तो देखें।" प्रमोद ने मन-ही-मन कहा और हाथ का पत्र मोड़कर जेब में रखने लगा। रखते-रखते फिर एक बार उड़ती निगाह डाली। उसमें चिर-परिचित अक्षरों में केवल यही लिखा था और हर अक्षर में किसी की अलकों की भीनी-भीनी गन्ध थी :

"प्रमोद भैया,

आप यहाँ आये हुए हैं, फिर भी आपने हमारे यहाँ आने की आवश्यकता नहीं समझी। यह तो आपको उचित नहीं है। क्या सन्ध्या को ठीक आठ बजे हमारे यहाँ खाने पर आयेंगे ? सच, हम लोग बहुत प्रतीक्षा करेंगे। हाँ, एक बात है, आपसे छिपाना नहीं चाहती। आज का भोजन मैं अपने ही हाथों से बनाऊँगी। वह विशेष रूप से आपके ही लिए होगा, क्योंकि उसमें पोटाशियम साइनाइड मिला होगा। मज़ाक इसमें ज़रा भी नहीं है। लेकिन वह आपको खाना ही है। विशेष क्या ? आप आठ बजे आ ही रहे हैं। आ रहे हैं न ?

आपकी,

सविता।"

साथ का पत्र संयोजकजी का था, जिसमें काग़ज़ देर से भेजने के लिए क्षमा-याचना की गई थी, क्योंकि जो सज्जन इन काग़ज़ों को रख गए थे वे अभी तक नहीं आये थे। एक साथ दोनों पत्रों को उसने बड़ी लापरवाही से मेज़ के एक कोने में फूलदान से टिकाकर खड़ा कर दिया और स्वयं उस रिपोर्ट में उलझ गया। दो घंटे तक सब-कुछ भूल-कर वह रिपोर्ट लिखता रहा।

काम समाप्त करके जब उसने सिर ऊपर उठाया और एक थकी साँस ली तो अनजाने ही उसके होंठों से निकल गया—'तो तुम ज़हर खिलाओगी सविता ! अच्छी बात है !' और स्मृतियों की फुहार में हँस पड़ा। पीछे दीवार से पीठ टिकाकर सहारा लिया और गुनगुनाने लगा—

"अमृत हो जायगा विष भी पिला दो हाथ से अपने।"···अतीत की गुंजलिका धीरे-धीरे खुलने लगी, खुलती चली गई···वह बुदबुदाया··· अब कौनसा जहर रह गया है कि···

"सचमुच, शर्म तो आपको आ नहीं रही होगी ?"

"किस बात की ?"

"किस बात की ?" उसने चिढ़कर मुँह बनाते हुए दुहराया, "बड़े आये हमें अपनी जूठी कॉफ़ी पिलाने वाले ! पहले शीशे में जाकर अपना मुँह तो देखिए, जाइए, हम नहीं पीते।" वह ठनक उठी, "पता है, मैं ब्राह्मण की बेटी हूँ, अपनी हैसियत से रहा कीजिए !"

"बहुत बक-बक मत कर, खोपड़ी तोड़ दूँगा। घर में क्या घुस आने देते हैं···यहाँ आकर रौब झाड़ने लगी, तेरे पुरखों ने भी देखी होगी कॉफ़ी वहाँ ? वहाँ तो तुलसी का जुशांदा उबालते हैं।"

"नहीं जी, हमें कॉफ़ी क्यों देखने को मिलेगी ? हिन्दुस्तान के सारे कॉफ़ी के बग़ीचे तो आपके हैं न ! आप ही तो एक इंगलैण्ड से नये लौटकर आये हैं न, बड़े आये चल कर हमें कॉफ़ी पिलाने !" मुँह बिचकाकर वह बोली।

"इंगलैण्ड से नहीं आये तो तेरी तरह घर में ही बैठकर पढ़े हैं ! पता है, आप एक बैरिस्टर से बातें कर रही हैं इस समय, बाहर से ही चपरासी भगा दिया करेगा।"

"जी हाँ, बहुत बैरिस्टर देखे हैं, आते हैं तो बड़ा रौब और शान रखते हैं, फिर तो झाड़ू ही लगाते बनता है सड़कों पर !" वह खिल-खिलाकर हँस पड़ी।

"अच्छा बक-बक मत कर, कॉफ़ी पीती है कि नहीं, ठंडी किये डाल रही है।"

"फिर वही रट, कह दिया कि हे लन्दन-पलट बैरिस्टर प्रमोदजी ! आप इस समय लन्दन के किसी क्लब में, किसी मेम के साथ नहीं बैठे हैं कि एक-दूसरे की तन्दुरुस्ती पी जा रही है, जूठी शराब और कॉफ़ी

चल रही है। आप इस प्रसिद्ध तीर्थ-नगरी में अपने घर में हैं और कुमारी सविता शर्मा, समझे, शर्मा से बात कर रहे हैं। यह तो कहिए मैं आपके यहाँ का पानी तब भी पी लेती हूँ, हमारी जाति का कोई सुने तो निकाल बाहर करे—कायस्थों के यहाँ का पानी ? राम-राम !" उसने कानों पर हाथ रख लिये।

"तो मुझे भी ज़िद है कि आज तुझे कॉफ़ी पिलाकर ही छोड़ूंगा, बैरीस्टरी मैंने पढ़ी है, छाँट आप रही हैं।"

प्रमोद ने झपटकर उसकी बाँह पकड़ ली और अपना प्याला उठाकर उसके मुँह से लगाकर गुर्राया—"पी···पी···नहीं तो फैलती है···"

"भैया, यह बात ठीक नहीं है, मैं भाभी को आवाज़ देती हूँ फिर ···भाभी !" वह नाराज़गी से बोली, "कॉफ़ी-वाफ़ी हम नहीं पीते, हमें स्वाद नहीं आता। हुक्के का-सा पानी, अरे···मानो···।"

"स्वाद नहीं आता ? सारी दुनिया कॉफ़ी पीती है, इन्हें अनोखा ही स्वाद नहीं आता।" बाँह छोड़कर प्रमोद ने गरदन पकड़ ली, और दूसरे हाथ का प्याला खट् से उसके होंठों से लगा दिया सविता के होंठ जल गए और दो घूंट मुँह में भर गई। एकदम वह सटक गई। सारा मुँह लाल हो उठा, गले की नसें उभर आईं और आँखों में पानी भर आया। उसने दोनों हाथों से प्याला पकड़कर इस तरह साँस ली जैसे डूब जाने पर उभरकर साँस ली हो। प्रमोद ने कप हटा लिया।

"ले अब, रो भाभी से जाकर कि मेरा धर्म नष्ट कर दिया, न जाने क्या पिला दिया !" उद्दण्ड स्वर में वह बोला; फिर कॉफ़ी के प्याले को अपने होंठों की ओर बढ़ाया।

सविता का गला जल गया था और दोनों हाथों से अभी तक उसने गला पकड़ रखा था।

"तुझे तो सीधे मुँह कभी कुछ करने को कहे ही नहीं। बस, गरदन पकड़ी और काम करा लिया।" बात समाप्त करके उसने फिर प्याला अपने होंठों की तरफ़, जहाँ कुटिल मुस्कराहट नाच रही थी, बढ़ाया।

"तुम्हारी भी आज बाबूजी से शिकायत नहीं की तो मेरा नाम नहीं। लन्दन से लौटकर आये हैं इस मारे यहाँ आदर करते-करते मरे जाते हैं, और आप साहब हैं कि किसी को बदते ही नहीं अपने सामने। हमारा सारा गला जल गया, अरे, अब उसे क्यों पीते हैं, मेरे मुँह से निकल आई थी—हाय-हाय कैसे गन्दे हैं! छिः-छिः!" घिन से दोनों हाथ झटककर वह बोली, "भैया सच, तुम तो जब से पढ़-लिखकर आये हो, बिलकुल मलेच्छ हो गए हो, और लेके अपनी जूठी कॉफ़ी पिला दी। भैया, सच बात है कि ऐसे तुम मेरा धरम नष्ट करोगे तो मैं यहाँ झाँकूँगी भी नहीं, समझे!" उसने ऐसा भाव दिखाया जैसे कॉफ़ी उसके पेट से वापस उमड़ी आ रही हो।

"झाँकने को कौन मैं तेरे हाथ-पाँव जोड़ने गया था कि हे सविता रानीजी, आपके बिना हमारा घर सूना पड़ा है, आप चलिए नहीं तो मुहूर्त निकला जा रहा है।"

"हाय! कोई सुने तो क्या कहे? जाने क्या-क्या बके जा रहे हो। भैया, हमें ये सब बातें अच्छी नहीं लगतीं। तुम्हें तो कुछ शरम-लिहाज़ है नहीं। जब से आये हो, जो मुँह पर आता है बक देते हो, एक तो अपनी जूठी-सच्ची चीज़ खिलाकर हमारा धरम नष्ट कर दो और ऊपर से ये सब कहनी-अनकहनी कहो।"

"बड़ी आई धरम-करम की रट लगाने वाली, धरम की बच्ची! धरम तो तेरा तभी नष्ट हो गया जब तू जान-बूझकर यहाँ आई।" फिर एक ओर मुँह फेरकर जैसे किसी अनुपस्थित व्यक्ति को सम्बोधित करके बोला, "भैया, इन ब्राह्मणों की माया ये ही जानें! बाप-भाइयों को हमारी बिरादरी वालों को भड़काकर जात से निकाल दिया, लड़का इंगलैण्ड हो आया है और बेटी है कि चौबीस घंटे बस हमारी ही छाती पर सवार रहती है, न पढ़ने देती है न लिखने।" फिर एकदम उसकी ओर मुँह फेरके बोला, "अच्छा, आप भागिए यहाँ से, वरना फिर मैं बुलाता हूँ पंडितजी को। खबरदार, फिर जो कभी यहाँ आई—बस, वहीं बैठी

अपनी खिड़की से झाँका कर, समझी ! वैसे तो 'जूठी-जूठी है' की रट लगा दी, पिलाया तो एक घूंट में आधा कप खाली कर दिया।"

"हाय, झूठ की हद हो गई है भैया, सच !" एक तो हमारे होंठ जला दिए, नहीं तो मैं एक घूंट नहीं पीती।"

"पी तो सही, अच्छा वता कैसी लगी हमारी जूठी कॉफ़ी ?" उसने ललककर पूछा।

"कड़वी जहर, थू-थू, जाने मांस-मच्छी क्या-क्या खाते हैं !" सविता ने ऐसा मुंह वनाया जैसे नीम की पत्तियां चबा ली हों।

"आहा, हमें तो बड़ी मीठी लग रही है, अमृत-जैसी। भई वाह, क्या कहने हैं !" वाकी कॉफ़ी को आनन्द से एक ही घूंट में पीते हुए वह वोला।

"तो लाओ, थोड़ा और थूक दूं उसमें। ज़रा और मीठी हो जायगी।" धृष्टता से वह वोली।

"थूकना क्या, तुमने तो छू दिया होंठों से बस, उसमें शहद घुल गया।" उसी तरह उसने उत्तर दिया।

"तो वस, मैं भाभी से कहे आती हूं, आज से चीनी-वूरा घर में ज़रा भी नहीं आएगा। मैं कुल्ला करके पानी रख दूंगी, दूध-चाय सवमें वही पड़ेगा।"

दूर वरामदे में आती भाभी की झलक प्रमोद को मिल गई। वह झटककर सीधा वैठ गया, इधर-उधर पड़ी कितावें सामने खिसकाकर ठीक कर लीं। एक घूंसा सविता की पीठ में मारकर वोला, "बड़ी आप स्वर्ग की देवी चली आ रही हैं कि हमारे खाने में थूकेंगी ! अपना मुंह तो देख, महीने-भर से दांत साफ़ नहीं किये हैं, तमाम वदवू आ रही है। चली आईं मटकती हुई, 'अमें पड़ा दो।' फिर ऊपर से यह कि हम आपके खाने-पीने में थूकेंगे।"

"हाय राम रे, मार डाला !" सविता दुहरी हो गई।

पाठको, मुझे लगता है कि यह कहानी वहुत हल्की और वचकानी

चल रही है, इसलिए इसे थोड़ा गम्भीर रंग देना ज़रूरी है ।

तभी भाभी ने प्रवेश किया, "क्यों मारे डाल रहे हो लालाजी, पराई लड़की को ? सारी दुनिया में घूम आए यह आदत नहीं छोड़ी ! अरे, अब तो कुछ ढंग सीखा होता ! अभी कुछ हो गया तो उसके बाप-भाई जान लेने आ जायँगे, वैसे ही हमें तो काले पानी की सज़ा है ।"

"तो यह हमारे खाने-पीने में थूकने को क्यों कह रही थी ?" नकिया- कर अपराधी की तरह वह बोला ।

"मैं कहाँ कह रही थी ··?" मेज़ के पास से हटकर सविता भाभी से सटकर खड़ी हो गई और भुनभुनाते हुए बोली, "खुद ही तो मुझे···"

"अच्छा तू नहीं कह रही थी कि आप तभी शुद्ध हो सकते हैं जब गोमूत्र पियें, गोबर खायें, और एक ब्राह्मण कन्या से सात दिन अपने खाने की हर चीज़ में रोज़ थुकवा लिया करें···?"

"मैंने कब कहा ?" उसने भाभी का हाथ अपनी पीठ पर ले जाकर अपने हाथ से टटोलकर वह जगह, जहाँ घूंसा पड़ा था, दिखलाते हुए कहा, "देखो, कैसी जगह उछल आई है !"

"हाय, सच्ची लालाजी, कुछ तो सोचा करो । बेचारी के गोला बन गया है । अभी हड्डी-पसली टूट जाती तो कहीं शादी-ब्याह भी नहीं होता···" भाभी ने सहानुभूति से कहा । वे गम्भीर थीं ।

"अरे भाभी, सच, तुम भी किसकी बातों में आ गईं ? यह बहुत चालाक है । इसके ज़रा भी नहीं लगी होगी, तभी तो इसने इतना हल्ला मचा रखा है । हल्ला मचाना तो इसके पूरे खानदान का काम है ही, एक तो अपना सारा समय नष्ट करके इन्हें, साहबज़ादी को पढ़ाओ, इनका काम देखो, ऊपर से यह हमारी एक-न-एक उल्टी-सीधी बातें बनाकर भिड़ाएँगी । जाओ हम नहीं पढ़ाते । ले जाओ अपनी किताबें-कापियाँ सब···" उसने सविता की किताब-कापियाँ मेज़ से नीचे फेंक दीं ।

तभी दरवाज़े पर नौकर ने आकर बताया, "बहूजी, छोटे बाबूजी

ने बुलाया है।"

"अरे हाँ, लालाजी, मैं तो भूल ही गई, तुम्हारे भाई साहब ने तुम्हें बुलाया है। बाबूजी भी वहीं बैठे हैं। इस बचपने को छोड़ो, ज़रा जल्दी चलो, कुछ ज़रूरी काम है।" भाभी जल्दी से चली गईं।

"बच गए बच्चूजी, अभी सब दाल-आटे का भाव मालूम पड़ जाता। कह देती, अपनी जूठी कॉफ़ी पिलाते हैं।" वह विजय से हँसकर बोली।

प्रमोद ने नहीं सुना। उसके चेहरे का सारा उल्लास और बचपना शायब हो चुके थे, बोझीली छाया उसकी भौंहों पर उतर आई थी जैसे कोई भारी चिन्ता, फ़िक्र और परेशानियों का पहाड़ उस पर टूटने को है। वह खुद ही बडबड़ाया, 'उँह, एक बार कह दिया, दस बार कह दिया, अब पता नहीं क्यों हर बार पेशी होती है। जिन्दगी सारी तलख़ कर दी।' वह टाई की गाँठ ठीक करता-करता चिन्ता-मग्न-सा चल दिया। पर जैसे कुछ याद आ गया और दो कदम लौटकर अचानक दरवाज़े पर ही धीरे-से बोला, "कापी देख लेना।" और वह बाहर निकल गया।

नीचे पड़ी हुई किताब-कापियाँ सविता ने समेट लीं। फिर वह उसी कुरसी पर बैठ गई जिस पर अभी प्रमोद बठा था। किताब पास खोल ली और इधर-उधर सावधानी से देखकर कापी खोलकर उस पर झुक गई। कापी में जल्दी-जल्दी में लिखा था।

"सविता मेरी,

"इधर घरवालों ने बहुत-बहुत परेशान कर डाला है। फिर से बिरादरी में मिलने की बस यही तरकीब इन लोगों की समझ में आ रही है कि जल्दी-से-जल्दी मेरी शादी कर दें, ताकि उनका दल मज़बूत हो जाये। उनके साथ तब फिर एक घराना और होगा। मुझे सिर्फ एक ही झिझक है कि मेरे विलायत जाने की वजह से ही यह सब मुसीबत आई है। भाई साहब और बाबूजी पीछे पड़े हैं कि दो-दो छोटी बहनें हैं, इनका सब कैसे करोगे, बिरादरी से अलग होकर कैसे और कब तक चलेगा? लेकिन···लेकिन मैं जानता हूँ कि शादी मेरी होगी बस एक के साथ,

नहीं तो नहीं होगी। आजीवन यों ही रहूँगा। तुम मेरा साथ दो तो मैं यम से भी नहीं डरता! तुम मेरी प्रेरणा हो, दिग्दर्शक यंत्र हो, शक्ति हो। शक्ति को लेकर ही तो शिव शिव हैं, और उनमें साहस है कि वे कालकूट पचा सकें। मैं भी यह सारा विष हँसते-हँसते पी जाऊँगा। तुम जहाँ भी रहोगी मेरे सपनों में सुरभित रहोगी, मेरी वाणी में मुखरित रहोगी। सविता, तुम मेरी पूर्णता हो, और अपनी पूर्णता को पाकर ही मैं शेष जगत् की शोषित जनता की अपूर्णता का निदान खोज सकूँगा, एक सधे हुए सन्तुलित जहाज़ की तरह इन लहरों और आँधियों में अपने मार्ग की ओर बढ़ सकूँगा, वरना कॉर्क की तरह यहाँ से वहाँ, अपनी ही अपूर्णता में भ्रान्त फिरने से क्या लाभ? अच्छा हो आदमी एक किनारे पर बैठा रहे। और यही निश्चय मैंने सूचित कर दिया है उन लोगों को कि शादी या तो जहाँ मैं चाहूँगा वहाँ होगी, नहीं तो समय पड़ने पर एक लम्बा चीवर मैं तैयार करा लूँगा, भिक्षापात्र हाथ में और सारी धरती पैरों पर। तुम बताओ मैं क्या करूँ? मेरा तो दिमाग़ ख़राब हो गया।

तुम्हारा ही—प्र०"

सविता पत्र पढ़ चुकी तभी लीला ने आकर कहा, "सविता जीजी, भाभी बुला रही हैं।"

"क्यों, अभी तो वे यहाँ से ही गई हैं?"

"हाँ, कुछ काम है। शायद बैठक में कोई आया है, नाश्ता भिजवाना है। आप ज़रा तैयारी करा दें।"

"अच्छा।" लीला चली गई तो सविता ने कागज़ फाड़कर ब्लाउज़ में रख लिया और चौके में आ गई। रसोई में भाभी प्लेटें फैला-कर नाश्ता रख रही थीं, सविता को देखते ही बोलीं, "सविता, ज़रा ये सेब काटकर इनमें लगा दो, मार हल्ला मचा दिया, चार बार भेज चुके हैं नौकर को, नाश्ता भेजो, नाश्ता भेजो। ज़रा जल्दी से ये नाश्ते की तश्तरियाँ तैयार कर ले, बिटिया मेरी।"

सविता नाश्ता लगाने लगी, भाभी ने चाय केटली में भरी और नौकर जब दो बार में उठाकर सारा नाश्ता ले गया तो एक थकी साँस लेकर धम से वे दीवार के सहारे बैठ गईं।

"आज तो सच, बहुत थक गई, सविता !" फिर बात बदलकर कहा, "और कहो, तुम्हारे यहाँ क्या हो रहा है ? बहुत दिन से मौसी को लाईं नहीं तुम।"

"कौन आ गए हैं ये, जो इनकी इतनी खातिरदारी हो रही है ?" सविता ने पहली बात पूछी।

"कुछ नहीं है सविता ! हमारा तो सारा घर परेशान है। बाबूजी, तुम्हारे भाई साहब, अम्माजी, सभी एक सिरे से पागल हैं। पता नहीं, लालाजी क्या चाहते हैं ?"

सविता मन-ही-मन चौंकी, फिर भी भोलेपन से पूछा, "क्यों ?"

"अरे क्यों क्या ? जब से इंगलैण्ड से होकर आये हैं, सारी तो बिरादरी खार खाए बैठी है। सब-कुछ हमारा, उठना-बैठना, हुक्का-पानी बन्द कर दिया है। और लालाजी हैं कि अपनी ज़िद पर अड़े हैं, कुछ समझ में नहीं आता। अब तुम्हीं सोचो, दो-दो छोटी बहनें हैं, उन्हें कहाँ देंगे ? यों ही चलते-फिरते के हाथ तो पकड़ा नहीं देंगे। उनकी इच्छा जरूर हो जायगी, लेकिन देख लेना सारा घर बरबाद हो जायगा। अम्मा तो शर्तिया ज़हर खा लेंगी।" उनकी आँखों में आँसू आ गए।

दोनों थोड़ी देर चुप रहीं। फिर जैसे बड़े झिझकते हुए भाभी बोलीं, "एक काम करोगी सविता ?" सविता ने प्रश्न-चिह्न-भरी आँखों से उधर देखा।

"तुम न समझा देखो ज़रा ! सच रानी, हमारा घर बन जायगा।" अनुनय से वे बोलीं।

"मेरी भी कहाँ मानते हैं वे ? दो घूँसे मारेंगे, तीन मील दूर जाकर गिरूँगी।" असमंजस में वह बोली।

"तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम समझा दो। देखो और किसी के वस की बात नहीं है। अब भी तुम देख लो जाकर बैठक में, आदमी आया है। ऐसा-ऐसा पीछे पड़ रहा है, लेकिन कहे जा रहे हैं कि मैं तो संन्यासी हो जाऊँगा।"

भाभी के अनुरोध से कातर होकर, या न जाने क्यों सविता रुआँसी हो आई और घुटे स्वर में बोली, "देखो, मैं कहूँगी तो, लेकिन देख लेना मानेंगे नहीं, मुझे तो बिलकुल बच्ची समझते हैं।"

भाभी ने इस वार ज़रा ध्यान से उसके चेहरे को देखा और एक बहुत ही महीन मुस्कराहट की रेखा उनके उदास बाएँ गाल और होंठों के बीच में झलकी और तत्क्षण ही अदृश्य हो गई—लड़की सबको बेवकूफ़ समझती है। दोनों चुप हो गईं। भाभी बैठी उसके चेहरे के उतार-चढ़ाव का तटस्थ अध्ययन करती रहीं।

उसे दिया गया काम कितना कठिन है, इसे सविता ने उस समय तक नहीं जाना जब तक वह प्रमोद के सामने न आ गई। अगर वह उसे समझा नहीं पाती तो भाभी कहेंगी, यह समझा सकती थी। लेकिन जान-बूझकर ही इसने चाहा नहीं, और अगर समझा लेती है तो? फिर अन्धकार—महान् अन्धकार की अथाह गहराइयों में वह खो जायगी···।

"आपसे कुछ ज़रूरी वात कहनी है।" भाभी के पास से आकर वह चुपचाप-गुमसुम उसकी मेज़ पर आकर बैठी रही थी। सामने यों ही किताब-कापियाँ खोल ली थीं, लेकिन पता नहीं क्यों बार-बार आँखों में आँसू भर आते थे। फिर भी उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि यहाँ नहीं रोना। रोना घर जाकर है कि मन का सारा ग़ुबार निकल जाय, जी भरकर रोना है। जब प्रमोद आया तो वह चुपचाप कुरसी से उठकर मेज़ से सटकर खड़ी हो गई, और काँपती उँगलियों वाले हाथों से किताब-कापियाँ टटोलने लगी, जैसे उन्हें समेटना चाह रही हो। प्रमोद एक कुहनी मेज़ पर टेककर उस पर अपना सिर टेके कुछ गम्भीरता से सोच रहा था, शायद बाहर कुछ ऐसी ही बात हो गई थी ··

"कहिए, अब आप भी अपनी ज़रूरी बात कह डालिए। जितनी भी ज़रूरी बातें हैं सब आज ही मेरे सिर पर थोप देना सब लोग, कोई बचने न पाए।" उसने तलखी से कहा।

वह अपनी बात कहने के लिए साहस इक्ट्ठा कर रही थी, लेकिन इस बात से उसने पलकें ऊँची करके प्रमोद को देखा तो उसकी ठोड़ी और होंठ कांप रहे थे जैसे खाल के भीतर सैकड़ों सुइयाँ एक साथ उठ-गिर रही हों। वह एक क्षण चुपचाप खड़ी रही, फिर ज़रा सकुचाकर बोली, "तो मैं चलती हूँ!" वह मुड़ पड़ी।

"अरे, उस ज़रूरी बात का क्या हुआ?" चौंककर उसने पूछा।

सविता की चाल एक क्षण को ठिठकी। बिना मुड़े ही उसने कहा, "नहीं, कुछ नहीं।"

"रुको।" प्रमोद ज़ोर से बोला और एक ही झटके में उसके पास आ गया। उसकी बाँह पकड़कर रोकते हुए कहा, "बोलो···!"

वह कुछ नहीं बोली, दूसरे हाथ से उसकी कसी उँगलियों को बाँह से हटाकर छुड़ाने का प्रयत्न करती रही। उसने गरदन दूसरी ओर मोड़ ली।

"भैया···!" उसने कहा, और अगले शब्द जैसे प्रयत्न करने पर भी उसके गले से निकले नहीं। वह एकदम अपना सिर प्रमोद के कन्धे पर रखकर फफक पड़ी।

चिन्तित-चकित प्रमोद स्तब्ध रह गया। सिर्फ़ एक शंका उसके दिमाग में गूँजती रही—कोई आ जाय तो! उसकी समझ में इस अप्रत्याशित विस्फोट का कारण नहीं आया। फिर भी उसने सान्त्वना के लिए उसके सिर और बालों पर हाथ फेरकर थरथराते गले से कहा, "अब बोल न···।"

"तुम मान क्यों नहीं जाते···"

प्रमोद जैसे ऊपर से नीचे तक सन्न रह गया। उसने उसके फैले बालों को पकड़कर अपने कन्धे से चिपका सिर उठाया। बड़ी कठिनाई से उसने

कहा, "तुम···तुम सविता···यो टू ब्रूटस् !" सविता का सिर वहीं आ चिपका।

दोनों थोड़ी देर चुपचाप खड़े रहे। फिर प्रमोद ने निरुद्विग्न स्वर में कहा, "अच्छा सविता, अब तुम जाओ।"

सविता नहीं गई।

"कुछ और जरूरी बात ?" हल्के व्यंग्य से प्रमोद ने एक क्षण रुककर पूछा, "तुमसे भाभी ने कहा है न ? तुम चाहती हो, घरवालों की बोली पर मैं नीलाम की तरह बिकूं ?"

करुण-याचना-भरे स्वर में सविता इतना ही कह सकी, "तुम मुझे ग़लत समझ रहे हो।"

"अभी तक तो जरूर ऐसी बात थी, अब तो ग़लत समझने का कोई कारण नहीं रह गया।" अपने उद्वेग को अधिकार में रखने की उसमें जितनी भी ताकत थी, उससे वह अपने को इस समय संयत रखे था। स्वर को बहुत स्वाभाविक बनाकर कहा, "मैं तुम्हें काफ़ी मजबूत समझता था ····खैर···।"

सविता अपराधी की तरह चौखट में लगे किवाड़ों को रोके रखने वाले गुटके को खोल-बन्द कर रही थी।

"लो, देखो···।" उसका हाथ पकड़कर प्रमोद उसे भीतर ले आया और अपने कपड़े टांगने की आलमारी खोलकर उसने बड़ा-सा चैस्टर उतारकर एक ओर गिरा दिया। उसके नीचे एक रुद्राक्ष की माला और खद्दर का लम्बा-चौड़ा चोग़ा झूल रहा था। पहले तो विस्मित उत्सुक सविता उसे देखती रही, नासमझ की तरह खुली आंखों से··· फिर एकदम दीवार से बांह टिकाकर फूट-फूटकर रो पड़ी···

प्रमोद ने अधलेटे ही जैसे तन्द्रा से जागकर देखा और दुहराया, "उंह, ज़हर देगी, मैं भी तो देखूं कैसा ज़हर देगी···कमज़ोर लड़की !" फिर उसे सहसा याद आया कि कार्यकारिणी की मीटिंग में कुछ बातें तय

हो चुकने के बाद शायद घंटे-आध घंटे बाद ही खुला अधिवेशन है। जो चीजें कार्यकारिणी में तय होंगी उनको ज़रा प्रभावशाली ढंग से रखकर डेलीगेटों से वोट भी तो लेने हैं'''अब जो भी हो, वहाँ तो जाना ही है, चाहे दस मिनट का समय निकाल कर ही सही। उसने अपने अलसाए मन में ज़रा-सा साहस इकट्ठा किया और समय देखने के लिए फिर फूल-दान से टिके रखे उस लिफ़ाफे को उठा लिया। हल्का हरा लिफ़ाफ़ा—वह उसे अधमुंदी आँखों से देखता रहा। स्मृतियों के शहद में डूबी मुस्कान तितली की तरह उसके होंठों पर खेलती रही। फिर भीतर का काग़ज़ और वही पुराने चिर-परिचित अक्षरों को बाहर निकालने के लिए छूते हुए उसे ऐसा लगा जैसे वह सजीव है। दो तह किया हुआ एक छोटा-सा लम्बा, लिफ़ाफे के ही रंग का काग़ज़ और उस पर सविता के होंठों की रह-रहकर कल्पना में आने वाली फड़फड़ाहट की याद दिलाने वाले अक्षर'''सुन्दर इन्हें न कहा जा सके; लेकिन कितने अधिक मुखर हैं—हर अक्षर जैसे अभी बोल पड़ेगा और इन अक्षरों ने उससे क्या-क्या नहीं बोला है? उसने कोने पर जहाँ काग़ज़ को पकड़ रखा था वहाँ देखा, रोमन अक्षरों में लिखा, हर अक्षर एम्बॉस किया हुआ था—'लोकेश भारद्वाज, डी० एस-सी० प्रोफ़ेसर ऑफ़ फ़िज़िक्स' उसके बाद कालेज का नाम'''वह धीरे-धीरे डूब गया'''

दोराहा, भँवर और दिग्भ्रान्त

लोकेश भारद्वाज, डी० एस-सी०
प्रोफ़ेसर ऑफ़ फ़िज़िक्स

नेमप्लेट देखकर स्वयंसेवक साइकिल से उतर पड़ा और कोठी का फाटक खोलने को उसने हाथ बढ़ाया ही था कि भीतर से एक चाइना पपी क़िस्म का छोटा-सा, बड़े-बड़े बालों वाला, कुत्ता भोंकता लपका। दोपहर के समय खाना-वाना खाकर सविता छोटी-सी बाँस की कुरसी पर धूप की ओर पीठ किये, और दोनों पाँव कुरसी पर ऊपर समेटकर रखे

झुकी हुई ज़रा अलसाई-अलसाई-सी नेलकटर से नाखून काट चुकने के बाद उन्हें गोल घिस रही थी। पता नहीं किस पार्टी में जाने के समय लगाई गई पॉलिश अब छूटकर लाल धब्बा-सी रह गई थी। आज नई पॉलिश लगा ली जाय या इसे भी छुड़ा डाला जाय—सविता अभी घिसते-घिसते यही सोच रही थी। उसे मालूम था कि गालों से ढुलकते हुए आँसू उसके नथुनों को छूकर सूखे-सूखे होंठों पर बड़ा खारा-खारा स्वाद पैदा करते हैं, फिर उसकी चूड़ियों, पाँव के अँगूठों और नाखून घिसते हाथ की उँगलियों पर टपक पड़ते हैं। पत्र भेज चुकने के बाद वह इसके सिवा कुछ भी सोच ही नहीं पाती थी कि प्रमोद ने कैसी उत्सुकता से पत्र लिया होगा, किस ढंग से खोला होगा, और पढ़कर कैसे मुँह बिचकाया होगा। प्रमोद के विषय में वह इतना कुछ जानती है कि किस समय वह क्या करेगा, इस बात का एक-एक चित्र वह साधिकार सोच सकती है। पत्र पढ़कर विद्रूप से टेढ़े हुए होंठों, व्यंग्य से हंसती निगाहों को तो सचमुच वह अपने सामने इतनी साफ़ और साकार देख सकती है कि यदि हाथ बढ़ाए तो छू ले। लेकिन उसी व्यंग्य पर वह झुंझलाकर कुढ़ जाती है; कभी किसी बात को गम्भीरता से लेना तो सीखा ही नहीं है! हमेशा वही बचपना, चाहे कोई कैसी ही महत्त्वपूर्ण बात क्यों न हो! तभी कुत्ते के भौंकने से उसका ध्यान टूटा और चौंककर पल्ले से आँखों और मुँह को पोंछा। नेलकटर हाथ में लिये ही फाटक तक आई तो स्वयंसेवक ने नाम पूछकर बाहर से ही लिफ़ाफ़ा बढ़ाकर दे दिया। लिफ़ाफ़ा हाथ में लेते ही वह समझ गई कि वह प्रमोद का है। उसके मन में आया, भगवान् करे, मना कर दिया हो—बहुत व्यस्त हूँ इसलिए आने में असमर्थ हूँ। लेकिन पता नहीं कैसे लिफ़ाफ़ा हाथ में लेते ही वह समझ गई, वह आ रहा है, इस बात की स्वीकृति ही इसमें है। मालूम नहीं यह क्या रहस्य है कि वह प्रमोद की हर बात को इतनी अच्छी और सच्ची तरह समझ गई है, कि किस बात से उसके भीतर क्या और किस तरह की प्रतिक्रिया होगी, फिर वह क्या करेगा! अपने इस प्रकार के विचित्र रूप

से विकसित प्रातिभ ज्ञान पर उसे हमेशा ही आश्चर्य और अधिकारपूर्ण प्रसन्नता हुई है। लिफ़ाफ़ा लेते ही जब उसने ऊपर केवल 'सविता' लिखा देखा तो जैसे उसकी आँखों के आगे वे लिखते हुए हाथ, क़लम और काग़ज़ की पकड़, लिखने से पहले प्रमोद के मन में 'श्रीमती' लिखने में या बाद में 'भारद्वाज' लगाने में जो द्वन्द्व हुआ होगा—सब जैसे बिलकुल —बिलकुल स्पष्ट रूप से मूर्त हो उठे, और गर्व के क्षणों में उसे लगा जैसे प्रमोद के आँसुओं में घुटे अन्तिम शब्द नये अधिकार और नई शक्ति के साथ जागकर उसके कानों में गूँज उठे हैं—"अच्छी बात है, जो तुम्हारा मन हो सो करो, जहाँ चाहो रहो, लेकिन याद रखना तुम्हारी आत्मा चिर-कुमारी है और उसका किसी के साथ विवाह नहीं हो सकता। उस पर तो मेरा और केवल मेरा अधिकार है।" इन शब्दों की गूँज से उसके प्राण रोमांचित और गद्गद् हो गठे। उसका मन हुआ कि वह धीरे से बुदबुदा उठे, 'हाँ प्रमोद, उस पर सिर्फ़ तुम्हारा ही तो अधिकार है।' इतना महान् और इतना पवित्र एक है जो उसके एक भ्रू-भंग पर सचमुच पहाड़ खोदकर नहर बना सकता है, इस अनुभूति के आह्लाद से उसकी आँखों में आँसू उफन आए। विक्टर ह्यूगो की लाइनें एक-एक अक्षर करके अँधेरे के पार जलती रेखाओं में जैसे चमक उठीं—'जीवन में चरम सुख के क्षण वे हैं जब आप सच्चे मन से यह अनुभव करें कि कोई आपको अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से प्यार करता है, उसके मादक नयनों के सपने केवल आपके लिए हैं, आपकी अपनी कमज़ोरियों और कमियों के बावजूद वे आपके हैं।' तुम नहीं हारे प्रमोद, लेकिन सविता तो सचमुच बिलकुल टूट गई है। और वह करे भी तो क्या? होंठों के बीच में नेलकटर दबाए, हथेलियों के बीच में लिफ़ाफ़ा लिये वह ऐसे खड़ी रही जैसे किसी अदृश्य शक्ति को नमस्कार कर रही हो—खोले या न खोले? लिफ़ाफ़ा तो उसी के नाम है। कुछ क्षण असमंजस में खड़े रहने के बाद वह धीरे-धीरे हथेलियों में दबाए ही भीतर चली आई और टेबल-लैम्प जलाकर मोटी-सी किताब खोलकर पढ़ते लोकेश

की किताब पर चुपचाप लिफ़ाफ़ा रख दिया। उसे दिन में भी चारों तरफ़ से किवाड़ बन्द करके टेबल-लैम्प जलाकर पढ़ने की आदत थी, बिना इसके उसका मन एकाग्र ही नहीं हो पाता था।

चौंककर लोकेश ने अपना लिफ़ाफ़ा समझकर उसे उलटा-पलटा, लेकिन सविता का नाम देखकर थोड़े चकित ढंग से पढ़ने का चश्मा लगी आँखों से उसकी ओर देखा, उनमें साफ़ प्रश्न था, 'मैं इसका क्या करूँ ?'

"प्रमोदजी का उत्तर है।" उसने यों ही निर्लिप्त स्वर में सूचना दी।

"तुम्हारे नाम है न, तुम देखो !" लोकेश ने एक बार फिर लिफ़ाफ़े की लिखाई देखी और चश्मा उतारकर हाथों में लेते हुए कहा, "सविता, तुम मुझे बहुत ग़लत समझ रही हो। मेरी उस आदमी से व्यक्तिगत रूप में कोई शिकायत नहीं है।"

उसकी बात न सुनकर बीच में काटकर वह बोली, "नहीं, आप ही देख लीजिए।" मन में तो उसके आया, कह दे कि मैं क्या देखूँ, मैं तो अक्षर-अक्षर जानती हूँ, उसमें क्या लिखा है !

और वह बिना अधिक रुके, बिना अधिक प्रतीक्षा किये एकदम पलटकर लौट पड़ी। उस समय उसकी चाल की हर बात में एक शहीदाना गर्वपूर्ण आत्म-विश्वास था। पीछे मुड़कर उसने नहीं देखा, लेकिन वह जानती थी कि उसकी इस दृढ़ता को, अंग-अंग से अभिव्यक्त होने वाली इस दीप्त बलिदान की भावना को, लोकेश आँखें उठाकर देख रहा है, प्रभावित हो रहा है और लिफ़ाफ़ा वह उसी समय खोल सकेगा जब वह कमरे से बाहर आ जायगी···वह फिर उसी बेंत की कुरसी पर आ बैठी, उसी तरह उसने लाल रंग के बाथरूम स्लीपरों को नीचे ही छोड़कर पैर ऊपर समेट लिये और फिर नाखूनों में उलझ गई—उन्हें घिसकर गोल करने लगी। पर पता नहीं उसके पेट में क्या बगूला-सा उठा कि वह कुरसी की पीठ पर बाँह रखकर, उस पर सिर टिकाए ज़ोर से बिलख-बिलखकर रो पड़ी। वह पत्र क्यों दे आई लोकेश को ? वह

तो सिर्फ़ उसका ही था। प्रमोद ने अपने निश्छल हृदय से उसे प्यार किया था और उसका बदला यह हो कि वह उसे यों बुलाकर ज़हर दे ? ऐसी क्या विवशता थी कि वह यों कह बैठी ? हाँ, वह उसे ज़हर दे सकती है। कितनी हल्की तरह बातचीत चल रही थी ! ज़रा भी तो ज़रूरत नहीं थी कि उस बात का यों अनिवार्य अन्त होता।

सुबह लोकेश के पलंग की पाटी पर बैठकर मेज़ पर रखी चाय की ट्रे में से प्याला बनाकर चीनी हिलाते हुए उसने बिना उधर देखे ही कहा, "लीजिए, फिर यह चाय ठंडी हो रही है···।" उसकी निगाहें अपनी गोद में फैले अखबार पर थीं और हाथों से वह चाय का प्याला बढ़ा रही थी।

रज़ाई को छाती से नीचे खिसकाते हुए लोकेश पलंग के सिरहाने से टिका हुआ अधलेटा उठ आया और उसने जैसे ही प्याला सविता के हाथों से लिया वैसे ही वह चौंक उठी, "अरे यह तो प्रमोद भैया हैं···।"

मुँह की ओर बढ़ता प्याला रुक गया। थोड़ा और उठकर वह अखबार की ओर झुक आया। एक बार ग़ौर से फ़ोटो देखी, नीचे का परिचय पढ़ा और फिर बड़े इत्मीनान और सन्तोष से उसी तरह सहारा लेकर बैठ गया।

जब वह प्रमोद के विषय में तस्वीर के नीचे लिखी गई लाइनों को निगल रही थी, तब लोकेश ने बड़ी तन्मयता से चाय पीते हुए पूछा, जैसे कोई अत्यन्त ही महत्त्वहीन बात कह रहा हो, "इन्हें तो तुम बहुत दिनों से जानती हो···।"

"जानती क्या, हमारे पड़ोसी ही थे, और···।" सविता का एक-एक रोम आह्लाद की पुलक से उमँग आया था।

"पड़ोसी ही नहीं, बहुत-कुछ थे।" स्वर में बड़ी हल्की-सी दृढ़ता अवश्य थी, लेकिन जैसे चाय और प्याले से खेलने के लिए ही लोकेश ने अपने स्वभाव के विरुद्ध प्लेट में चाय उंडेल ली और थोड़ा-थोड़ा सिप करने लगा।

"बहुत-कुछ क्या ?" सविता अभी तक उमंग में डूबी थी। उसने अबोध सरलता से ही दुहरा दिया, "वे मेरे बड़े भाई हैं···गुरु हैं······"

"बस···!" चाय से गीले होंठों में हल्का व्यंग्य उभर आया था, लेकिन इतना आक्रमणरहित जैसे एक सरल परिहास हो।

"बस !" सविता तनकर बैठ गई और उसने दोनों हाथ जोर से तस्वीर पर ढक दिए। उसने सीधी आँखों से लोकेश की आँखों में झाँका। हाथों के बोझ से अखबार खड़खड़ा उठा।

अपने चेहरे के अविश्वास को छिपाने की लोकेश ने कोशिश नहीं की······।

उस समय दोनों चुप रहे, लेकिन शेव करते समय, नहाते समय, हर क्षण लोकेश को ऐसा लगा जैसे सविता उसके आस-पास मँडरा रही है, उससे कुछ कहना चाहती है, जैसे अवसर खोज रही हो या स्वयं ही बात शुरू करने का बहाना चाहती हो। आखिर नाश्ते के समय उसने स्वयं अवसर दिया। अत्यन्त ही निष्कपट भाव से वह बोला, "प्रमोद को आज खाने पर बुला न लो !"

"मैं तो बुलाने नहीं जाऊँगी, अधिकार समझते तो खुद आते।" उस समय वह लोकेश की पैंट में बकसुआ लगा रही थी। डोरे को दाँत से काटते हुए बोली, "आप हम लोगों के बारे में क्या सोचते हैं ?" प्रयत्न करके भी उसकी आँखें उठी नहीं, वह दृष्टि गड़ाकर सुई में डोरा पिरोती रही।

"कोई खास नहीं, जैसा कि हम-उम्र लड़के-लड़कियों में होता है, वैसा ही शायद तुम लोगों में था···कम-से-कम मैंने ऐसा ही सुना···" लोकेश ने बिलकुल ही निरुद्विग्न भाव से बात को शुद्ध वार्तालाप के स्तर पर रखते हुए ही कहा, जैसे वह किसी अनुपस्थित व्यक्ति के सम्बन्ध में बात कर रहा हो।

लोकेश प्रतिक्रिया देखता रहा और सविता मन में साहस इकट्ठा

करती रही। हाथ उसके सी रहे थे, लेकिन दिमाग़ वडी तेजी से चल रहा था। झुकी आँखों और बड़े झिझकते कंठ से धीरे से उसने पूछा, "क्या तुम्हें ऐसा लगा कि हमारे बीच में कहीं वे हैं ?"

"इसी वात का तो मुझे ताज्जुब होता है कि क्या हमारे-तुम्हारे वीच में वह नहीं भी है ? या जो कुछ मैंने सुना था वह ग़लत ही था। या फिर···" वह झिझका।

"या फिर···?" एक अनिमेष जिज्ञासा।

"या फिर साफ़ है कि तुम दोनों जगह ईमानदार नहीं रही हो।"

थोडी देर चुप्पी रही और सविता आहत की तरह देखती रही। फिर बोली, "सच वताएं ? जो तुमने सुना था वह भी ग़लत नहीं था और हमारे-तुम्हारे वीच में वह नहीं हैं, यह भी सही है···।"

"यानी···?"

"यानी कुछ नहीं। जब लड़की घर से आती है तो अपने सारे सम्पर्कों और सम्वन्धों को वहीं छोड़ आती है। उनमें वहुत से अच्छे होते हैं, बहुत से वुरे भी; वहुत से आवश्यक होते हैं, वहुत से मधुर होते हैं, लेकिन उनमें कुछ को वह भूल जाती है, कुछ को वह भुला देती है। इस तरह ससुराल वह विलकुल ही नई होकर जाती है। और ऐसा कौन लड़की कह सकती है कि उसके किसी भी तरह के कोई सम्वन्ध पहले थे ही नहीं ?"

"तो आप कहना यह चाहती हैं कि उसके प्रति आपके हृदय में कोई 'इमोशनल फ़ीलिंग' नहीं है अव···"

"हाँ, अपनी तरफ़ से तो मैं शायद ऐसा कह ही सकती हूँ।" पैंट को पलंग पर रखते हुए वह वोली। कोशिश के वाद भी वात करते समय वह अपने हाथ के काम में या व्यस्तता में अन्तर नहीं आने दे रही थी।

लोकेश समझदारी से मुस्कराया, लड़की चालाकी से वातें कर रही है। वच-वचकर अपनी तरफ़ से 'शायद' जैसे शब्द लगाकर वोलती

है। उसने पूछा, "अगर वह आज मर जाय, तो तुम्हें कोई दुख नहीं होगा···?"

"मेरा तो ख़याल यही है।" यह सोचकर सविता मुस्कराई कि इस समय उन लोगों के बीच में कैसे नाज़ुक विषय पर कैसे सचेत अनजानेपन से बातें हो रही हैं। अभी ही ज़रा-सी बात ग़जब कर सकती है।

"मान लो, तुम्हें उसे ज़हर देना पड़े तो ?" लोकेश अपने भोले प्रश्नों से एक-एक क़दम धकेलता हुआ सविता को किधर ले जा रहा है, इसे वह नहीं जान सकी। उसकी कोई भी प्रतिक्रिया उसकी आँखों से नहीं छिपी थी।

"अव्वल तो ऐसा मौका आयेगा नहीं, लेकिन अगर आया भी तो मेरा तो विश्वास है, मैं झिझकूँगी नहीं···लेकिन ऐसा मौक़ा आयेगा ही क्यों ?"

"तो सविता !" इस बार बहुत ही दृढ़ और निर्णयात्मक ढंग से लोकेश बोला, "मेरी इच्छा है कि इस बार तुम उसे ज़हर दो, मेरे सामने। मैं देखना चाहता हूँ कि उसे ज़हर देते हुए तुम्हारे हाथ काँपते हैं या नहीं। तुम झूठ कह रही हो या सच। यह सिर्फ़ सुरक्षित आत्म-स्वीकृति का बहाना-मात्र ही तो नहीं है।"

"जब चाहें···" सविता मुस्कराई। इन मज़ाकों से वह डरने वाली नहीं है।

"जब का सवाल नहीं है। यह बहुत अच्छा मौका है। तुम आज ही उसे बुलाओगी। मैं बहुत गम्भीरतापूर्वक यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि हमारा दाम्पत्य-सुख इसी घटना पर आधारित होने जा रहा है।"

उठकर कमरे की ओर जाते हुए लोकेश ने कहा, "तुम अभी उसे मेरे सामने पत्र लिखो और उसमें साफ़ लिख दो कि तुम्हारा इरादा उसे ज़हर देने का है···वह आयेगा ?"

"वह रुक नहीं सकते।"

सुनकर एक क्षण को लोकेश ने मुड़कर देखा, और फिर कुछ दूर चुप ही चलकर बोला, "अच्छा, तो तुम खत लिखो; मैं ज़रा वकील की तरफ भी जाऊँगा, खत भी साथ ले जाना होगा। उधर से ही भिजवाना होगा न!"

और तब सविता ने जाना कि वह बातों-बातों में क्या कह चुकी है, क्या कह बैठी है और उसकी स्थिति कैसी भयंकर हो उठी है। फिर भी अब, जब खत पहुँच चुका है और प्रमोद की स्वीकृति आ चुकी है तब भी शुरू की तरह उसे विश्वास है, यह सब एक मज़ाक है, और इसमें ज़रा भी सत्य और गम्भीरता नहीं है। ऐन मौक़े पर ज़रूर कोई-न-कोई ऐसी घटना हो जायगी कि सारी स्थिति एकदम सँभल जायगी, सब-कुछ एकदम पलट जायगा। या हो सकता है कि आने से पहले ही अचानक कोई ऐसा काम आ पड़े कि प्रमोद को जाना पड़े, या ऐन मौके पर अचानक कोई तार आ जाय···मतलब, कुछ-न-कुछ होगा ज़रूर कि सारी चीज़ सँभल जायगी।

और तब रोते-रोते भी सविता को आश्चर्य था कि वह इतना आत्म-विश्वास से कैसे दुहरा सकी कि वह रुक नहीं सकते। इतनी हिम्मत कहाँ से आई उसमें? और जब वह जानती है कि वह रुक नहीं सकता तो फिर वह सब असम्भव कल्पनाएँ क्यों कर रही है? हिम्मत पर ही उसे ध्यान आया प्रमोद का एक वाक्य। कितनी व्यथा, शिव की तरह कैसा ज़हर का घूंट पीकर उसने केवल इतना कहा था—'कमज़ोर लड़की!' हाँ, वह कमज़ोर ही तो थी जो अपनी कमजोरी को दूसरों के वाक्यों की आड़ में छिपाना चाहती थी, दुनिया-भर के शब्दों का बहाना लेकर ···उफ़! कितना द्रावक दृश्य था वह! उसे वह शायद इस जन्म में तो भूल नहीं सकती, जैसे हर क्षण वह वाक्य, उसका एक-एक शब्द उसकी आत्मा के 'फ्लास्क' में तैरती मछलियों की तरह है, जो अपने विहार से पानी को ज़रा भी नहीं कँपातीं, लेकिन हमेशा तैरती दीखती हैं, अनुभव होता है कि वे हैं।

वह स्टूल पर बैठा रहा और सविता उसके मुड़े घुटनों पर कनपटी टिकाए उससे सहारा लेकर धरती पर थी। प्रमोद के हाथ उसके खुले बालों पर थे, लेकिन जैसे निर्जीव, निस्पन्द ! सांझ का अंधेरा गहरा आया था, लेकिन दोनों चुप थे, जैसे कुछ भी कहने को नहीं है, सब-कुछ समाप्त हो चुका है, बस केवल एक मौन ही बचा है जिससे उन्हें समझौता करना है, जैसे किसी यूनानी शिल्पी ने ये मूर्तियाँ गढ़ दी हैं जो किसी सुनसान-उजाड़ बस्ती के किनारे इसी तरह जाने कब से खड़ी हैं और न जाने कब तक यों ही खड़ी ही रहेंगी। वे शाप के प्रभाव से पत्थर बनी मूर्तियाँ—वे गवाह हैं कि यह बस्ती उन्हीं के सामने बनी, जागी और उजड़ गई। एक बहुत बड़ी चील, सारे क्षितिज को ढक डालने वाले, अपने बहुत बड़े-बड़े डैने फड़फड़ाती आई और मूर्ति के सिर पर बैठ गई। उसने अपने फैले पंखों को दो-चार बार फड़फड़ाकर शरीर साधा और ताश की फैली गड्डी की तरह पंख समेट लिये, फिर इधर-उधर देखा और जोर से अपनी कुल्हाड़े जैसी चोंच एक मूर्ति की आंख में मार दी···'ठक्'···क्षितिज में शब्द गूंजा, दूर···उफ़ ! प्रमोद के घुटनों पर सिर रखे सविता सिसक रही थी···

"अच्छा, उठो और बत्ती जला दो···" प्रमोद ने आँसुओं के गीलेपन से सचेत होकर कहा।

सविता ने बिना कुछ कहे उठकर बत्ती जला दी। फिर वह वहीं असमंजस में खड़ी रही—रुके या चली जाय।

"सविता···!" उसने सुना।

बिना बोले वह छाया की तरह पास आ खड़ी हुई। प्रमोद ने बैठे हुए ही उसके कन्धे पर हाथ रख दिया और देर तक उसकी ओर देखता रहा—कहे या न कहे? सविता को ऐसा लगा कि वे अगस्ती-निगाहें जैसे उसके अणु-अणु में समाई जा रही हैं, वे अभी उसकी सारी चेतना और शक्ति को सोख लेंगी और वह सूखी बालू की मूर्ति की तरह धरती पर बिखर जायगी, नहीं-नहीं, उससे अब वे निगाहें नहीं देखी जा सकेंगी।

वह दूसरी ओर देखती रही।

"हम लोग···" थूक सटककर प्रमोद जल्दी से बोल गया, "हम लोग कहीं और नहीं जा सकते ?"

"कहाँ ?" और इस कहाँ का सीधा अर्थ था कि कैसी बातें करते हो···कितनी असम्भव !

फिर चुप्पी।

"सविता···"

"हूँ···"

"मेरी ओर देखो···"

"कहिए···" सविता ने नहीं देखा, उसके कान का इयरिंग बिलकुल नहीं हिल रहा था।

"देखो···!" स्वर में करुण याचना।

"क्या ?" मुँह घूमा, लेकिन आँखें नहीं उठीं। अपनी कमज़ोरी पर एक हल्की छाया जैसी मुस्कराहट का आभास उभरा।

"देख रही हो···?" जैसे धार की काट से धसक उठने से एक क्षण पहले कगार बोले।

सविता ने देखा, पुतलियों पर पानी की एक हल्की परत। बच्चन के एक गीत की लाइन उसके मन में उभरी—

खींच ऊपर को भ्रुओं को
रोक मत इन आँसुओं को
भार कितना सह सकेगी यह नयन की नाव।

"कुछ दीखता है···?"

एक साथ दोनों के मन में एक मधुर क्षण पर दुहराई पन्त की लाइन टकराई: "तुम्हारे नयनों का आकाश, खो गया मेरा खग अनजान ?" सविता का निचला होंठ फड़का। वह दूर जैसे आँखों के पार कहीं देखती रही—ऊपर की छत में जलती बत्ती की दो परछाइयाँ पनीली पुतलियों पर चमक रही थीं, जैसे वे दो झरोखे हैं जहाँ से झाँक-

कर वह अतीत के विशाल विस्तार को देख सकती है।

"कुछ नहीं दीखता ?" प्रमोद उसकी दोनों कनपटियों पर हाथ रखे उसकी खुली आँखों में गौर से देखता रहा, "सचमुच तुम्हें कुछ भी नहीं दीखता सविता···?"

"न···हीं···" गोली खाकर साँस तोड़ते पक्षी की तरह शब्द फड़फड़ाए। वह उन्हें देखने में ऐसे डरती थी जैसे दो अथाह-अँधेरे गड्ढों में देखने से डरती हो।

"नहीं दीखता···? ध्यान से देखो न···"

सविता को लगा जैसे उसका मनोबल कहीं हवा में घुलकर खोता जा रहा है, जैसे वह हिप्नोटाइज हो रही है, जैसे वह धीरे-धीरे डूबती जा रही है, जैसे एक विस्मृति का अँधियारा धीरे-धीरे चेतना पर उतर रहा है—सब-कुछ शान्त-सुनसान। केवल झींगुरों की अविराम झंकार, जैसे जंगल में बहते झरने-सी झंकृति···

"दीखता है न ? देखो, एक विशाल रेगिस्तान है, चारों तरफ़ कैसा फैला हुआ है···? उसके एक किनारे पर, दूर पर, एक बाढ़ पर आई-सी नदी फैली जा रही है। देख रही हो न ? उसके किनारे खड़ा हुआ बबूल का वह नंगी बाँहें उठाए, नसों की जालों के नक्शे-सा वह पेड़···कैसा है, अकेला-अकेला, जैसे किसी ने उसे निर्वासन दे दिया हो, देश-निकाला ! और देखो उसकी एक डाली पर कितने गिद्ध बैठे हैं, हैं न ? दूर से तो बिलकुल काले-काले धब्बे-से दीखते हैं···और नीचे एक चिता जलती नहीं देखतीं ? पास वह कुत्ता कैसी जीभ निकाले हाँफ रहा है ! ग़ौर से देखो···जानती हो वह चिता किसकी है···?"

अचानक उसके गले में बाँहें डालकर, उसके कन्धे पर लटककर सविता फूट-फूटकर रो पड़ी···सिसकती साँसों में उसने सुना, 'कमज़ोर लड़की···'

नहीं, वह कन्धा नहीं था, वह किसी का गला नहीं था, जिसमें बाँहें डालकर वह रोई थी···बेंत की कुरसी के टिकाव पर दोनों बाँहें रखे वह

सिसक रही थी···उसे पता भी नहीं था कि धूप वहाँ से जा चुकी है।

कहानी का प्रारम्भ

पाठको, मैं जानता हूँ कि मेरी कहानी दो लड़के और एक लड़की वाले पुराने त्रिकोण पर आ गई है, फिर भी मैं चाहता हूँ कि यह त्रिकोण कहानी की समाप्ति न हुआ करे।

"आपको दुनिया-भर में घूमने की फुरसत है, नेतागिरी करने को वक्त है, बस हमारे यहाँ आने की ही टाइम नहीं है।" सविता ने ताना मारा। उसका दिल धक्-धक् बजा, गला सूखने-सा लगा।

बाँहों में भरे लोकेश को छोड़ते हुए प्रमोद ने पुलककर पूछा, "कैसी रही सविता ? अरे तू बड़ी मोटी हो गई है, क्या पानी-वानी यहाँ का बहुत अच्छा है ? शहर तो बड़ा गन्दा है, बस यही हिस्सा ज़रा खुला समझ लो।"

"कहाँ ? अभी तो बीमार हो चुकी हूँ, फिर नजर लगा दो।" सविता लजा उठी। उफ़, झूठा कहीं का, ऊपर से कैसा खुश है, हँस रहा है, भीतर से चाहे जो हो रहा हो !

"तब तो भाई भारद्वाज, तुमसे हमें बड़ी सहानुभूति है। बीमारी के बाद जब यह हाल है तो अच्छेपन का भगवान् ही मालिक है··"

तीनों खुलकर हँस पड़े। अचानक जैसे याद आ गया हो, प्रमोद ने संभलकर कहा, "अच्छा भाई, सविता, क्या खिलाना-पिलाना है, खिला दो फिर चलें; मीटिंग बीच से छोड़कर आया हूँ, अभी खोज होगी, पता चल गया तो ··खुला अधिवेशन है न, उसमें पहुँचना है।"

"हाँ-हाँ, पता है, बहुत बड़े नेता हो गए हो। क्यों हल्ला मचाते हो ?" एक क्षण सविता जैसे उस विकट परिस्थिति को बिलकुल भूल गई। वह जैसे बताना चाहती थी कि देखो लोकेश, प्रमोद बहुत बड़ा नेता है और मैं उसके साथ ऐसे अधिकार से बोल सकती हूँ।

"नहीं-नहीं, फिर आऊँगा, इस समय तो ज़रा जल्दी है। अब तो घर देख लिया है न !" वह खुलकर हँस पड़ा।

सविता के भीतर जैसे कुछ ज़ोर से कसक उठा, यह अब भी उसी तरह गला फाड़कर हँस सकते हैं, दिल में ज़रा भी द्विधा नहीं उठती···?

खाने की मेज़ पर केवल तीन ही थे।

"अगर मैं ज़रा जल्दी-जल्दी खाऊँ तो बद्तमीज़ी के लिए माफ़ कीजिए···।" प्रमोद ने लोकेश से कहा।

लोकेश कुछ नहीं बोला, वह गम्भीर था।

जल्दी-जल्दी खाने की व्यस्तता में मुँह चलाते हुए प्रमोद ने पूछा, "यह ठीक-ठाक रहती है या बहुत तंग करती है···?"

ओफ़, कम्बख़्त कैसा मस्त होकर खाए जा रहा है ! ज़रा भी चिन्ता नहीं है; विश्वास नहीं करता कि सविता भी उसके साथ यह सब कर सकती है ! कैसे तोड़े ऐसे निश्छल आदमी के विश्वास को वह ? नहीं, वह खुद खा लेगी। सविता की एक-एक धड़कन जैसे घड़ी की टिक टिक हो और उसे मालूम हो कि पच्चीसवीं धड़कन पर गिलोटिन का गंडासा गिरेगा और नीचे रखा सिर खच्च् से कटकर दूर जा गिरेगा ! एक-दो-तीन, उफ़ कैसे रोके वह इन सुइयों को, सुनते हैं मानसिक शक्ति (विलपॉवर) से बहुत से काम रोके जा सकते हैं, क्या उसकी इच्छा-शक्ति फुफकारते नाग-सी एक-एक पल सरकती इस दुर्घटना को नहीं रोक पाएगी ?

"जैसी आपने बना दी है वैसी ही है···" मुँह में ले जाते कौर को रोककर लोकेश बोला।

"कैसी ?" चौंककर प्रमोद ने ग़ौर से लोकेश को देखा, और फिर ज़ोर से हँस पड़ा, "क्या घर में ही क्रान्ति करने लगी है ? क्यों री, क्या सुन रहा हूँ ?"

इस वक्त भी मज़ाक नहीं छोड़ रहे ! उसे साफ़ दीखता है डैमोक्लीज़ की बाल में बँधी लटकती तलवार एक-एक पल नीचे सरक रही है। उससे बोला नहीं गया। उसकी आँखों के आगे 'पो' की कहानी का वह तेज

धार वाला पेण्डुलम घूमने लगा जो कुएं में बन्द आदमी की आँखों के आगे घूम रहा था। वह केवल इधर-उधर चुग-सा रही है, उससे खाया नहीं जा रहा, मेज़ पर बैठी वह सिर्फ़ प्रमोद की चलती उँगलियों को देख रही है—लोकेश सब मार्क कर रहा था।

और जब खाना खत्म करके प्रमोद ने जल्दी से गोद में रखी नैपकिन से हाथ पोंछे तो लोकेश बोल उठा, "अरे, ये पुडिंग तो लीजिए न!" फिर उसने स्टेनलेस स्टील की खूबसूरत तश्तरी में ज़माये गए चाँदी के वर्कों से मढ़े पुडिंग की ओर इशारा करके कहा, "सविता, भाई साहब को पुडिंग दो न···!"

नहीं-नहीं, अभी कोई अप्रत्याशित घटना होगी, अचानक ज़ोर से बिजली कड़कड़ाकर, छत फाड़कर यहाँ आ गिरेगी कि पुडिंग की तश्तरी के टुकड़े-टुकड़े बिखर जायँगे।

'हाँ भई, दो···फिर देर हो रही है।" प्रमोद ने चम्मच उठा लिया।

अँगूठी का नग झिलमिलाया, कलाई की चूड़ियाँ हिलीं, तश्तरी के किनारे पर ऊपर टिका अँगूठा और नीचे से उठाती उँगलियाँ काँपीं, उसे लगा वह अभी ज़ोर से तश्तरी बाहर फेंक देगी, और पागलों की तरह चीखें मारती बाहर भाग जायगी। क्या यह तश्तरी वह लोकेश की तरफ़··· नहीं···नहीं, अब उसकी चीख किसी भी तरह नहीं रुक सकती। उसने फेफड़ों में साँस खींची।

अनजाने ही तश्तरी प्रमोद की ओर बढ़ गई और काँपते हाथ की तश्तरी में से लेने में दिक्कत न हो, इसलिए एक हाथ नीचे लगाकर उसने चम्मच भर ली और तेज़ी से चम्मच होंठों की तरफ़ बढ़ाई।

दुखान्त कहानी के पाठकों के लिए मेरी यह कहानी खत्म हो गई है और वे बिना आगे बढ़े, बड़े मज़े में सन्तोष कर सकते हैं।

सुखान्त कहानियाँ पसन्द करने वाले नीचे की पंक्तियाँ और जोड़ लें।

अचानक प्रमोद की कलाई को लोकेश ने पकड़ लिया, भरे गले से बोला, "बस!"

चौंककर प्रमोद ने उसकी ओर देखा कि दोनों एकदम घबराकर उठ खड़े हुए, क्योंकि सविता कुरसी से नीचे लुढ़क गई थी। उस ओर झपटते हुए लोकेश के मुँह से निकला, 'कमज़ोर लड़की !'

किराये का काम



किराये का काम

दफ़्तर जाने के लिए सीढ़ियों से उतर रहा था तभी अपने मकान-मालिक सेठ की ज़ोर-ज़ोर की आवाज़ सुनाई दी। वह किसी से लड़ रहा था। ज़ीने से बाहर आते ही देखा, पन्द्रह-बीस आदमियों की अच्छी-खासी भीड़ वहाँ जमा थी। बीच में सेठजी का सिंह गर्जन सुनाई दे रहा था। भीड़ में झाँकने से पता चला कि प्रतिद्वन्द्वी मुहल्ले के उतने ही प्रसिद्ध पुजारीजी हैं। पटेबाज़ी की मुद्रा में पैंतरे बदलते हुए सेठजी चीख-चीख कर कह रहे थे—"हराम का है दूसरे का पैसा, जेब काट लो, डाका डालो, लूट लो। काम तो कुछ करो मत और लेने को छाती पर चढ़-चढ़कर आओ। लेने को शेर काम को भेड़!"

"अरे सेठ होगा अपने घर का होगा, रुपये तो हम तेरे सात पुरखों से वसूल कर लेंगे। हमें किस बात का डर है? भगवान् हमारे साथ है, तेरी सात पीढ़ियों को गर्क करेगा—जो नरक में भी जगह मिल जाय।

बने हैं धन्नासेठ, पचास हवेलियां खड़ी हैं, गोदामों में ब्लैक की गांठें भर रखी हैं, रोज लाखों सट्टेबाजी में लूटता है और पैसे देने में दम निकलता है। कोढ़ फूटेगा साले! दूसरों से काम करा लो और पैसे मत दो।" पुजारीजी सेठजी की छाती पर कटखने कुत्ते की तरह चढ़-चढ़कर आ रहे थे। वास्तव में उनके आत्मविश्वास से लगता था कि उन्हें इस संसार में डर किसी बात का नहीं है, क्योंकि उनके पीछे भगवान् हैं। बड़ा चादरा चीवर की तरह कन्धों पर डाले, हाथ में पूजा की लुटिया लिये, वे क्रोधी दुर्वासा के कोई निकट सम्बन्धी जान पड़ते थे।

एक से पूछा—"मामला क्या है?" उसने बताया ही था कि 'कुछ नहीं जी, चार आने का झगड़ा···' तभी सेठजी फिर गरजे—"हमारी तो सात पीढ़ियां नरक में जायेंगी, पर तू भगवान् की आंखों में धूल झोंक-झोंककर अपने सात पुरखे तारता रहियो! बने हैं पुजारीजी! चन्दन लगा लिया, चादरा पहन लिया, चल दिए खड़ाऊं खटखटाते हुए! नाकों चने नहीं चबवा दिए तो मैं भी सेठ मलूकराम का बेटा नहीं। पुजारीजी, तुम्हें सवा रुपये के हिसाब से लेना हो तो लो, नहीं तो रास्ता नापो!"

पुजारीजी और भी ताव में आ गए। कन्धे पर चादरे को और भी खिसकाकर, बिलकुल सेठजी के पास तक झपटकर, दुनलियों की तरह अपनी दोनों उंगलियां उनकी ठीक आंखों की सीध में करके क्रोध से थर-थर कांपते दहाड़े—"डेढ़ रुपया! एक पाई कम नहीं। साले तेरी आंखें फोड़कर ले लूंगा। तूने समझा क्या है? ब्राह्मण का बच्चा हूं। सराप दे दूंगा तो ढेर हो जायगा, फिर रोता फिरेगा। तुम्हारी तरह नहीं हैं कि बाहर ऐश करें और घर में···।" और अपनी ब्रह्मतेज से लड़खड़ाती जबान से पुजारीजी ने सेठ और सेठानी दोनों के सम्मान में ऐसे अपशब्द कहे कि सेठजी ने आव देखा न ताव, उनकी गालियां उन्हें वापस करते लपके पुजारीजी का टेंटुआ भींचकर भवसागर से तारने!

तब लोगों ने बीच में आकर सेठजी को पकड़ा, पुजारीजी को हटाया। उन्हें शान्त करते हुए एक सज्जन ने पूछा—"अरे छोड़िए सेठजी, गुस्सा थूक दीजिए···मामला आखिर क्या है ?"

सेठजी मामला बताएँ इससे पहले ही लोगों द्वारा रुके हुए पुजारीजी वहीं से गरजे—"यह क्यों बताएगा, मैं बताता हूँ मामला ! इक्कीस दिन के अनुष्ठान के लिए इस साले ने मुझे तय किया। बोल झूठ कह रहा हूँ ? तब तो आया घिघियाता हुआ—'पुजारीजी, तुम्हारे चरण पकड़ूँ, एक अनुष्ठान किया है मैंने···। बस ज़रा मेरी गाँठें अच्छे भाव बिक जायँ। तुम ज़रा रोज़ एक घण्टे आकर पूजा कर जाया करो।' पूजन जाने किससे पूछ आया। मैंने समझाया यज्ञ की ज़रूरत है। नहीं माने। खैर डेढ़ रुपया तय हुआ। सो कभी साला कहता, तुम पन्द्रह मिनट पहले उठ गए; कभी कहता, दस मिनट पहले काम छोड़ दिया; कभी कहता, पुजारीजी ज़ोर-ज़ोर से पढ़ा करो, पता चले तुम कुछ कर रहे हो। बोलो, यह तो पूजा है। हमारे जैसे जी में आयेगी वैसे करेंगे, कपड़े नापने का काम तो है नहीं कि दो गिरह खींच दिया। खुद तो साले हमें बिठाकर बेंत हिलाते घूमने चले जाते थे हमारे सामने; अब हमें पता लगा कि जासूसी करता है, दूसरे दरवाज़े से लौटकर खिड़की में बैठकर देखता है, या नौकर से कह जाता है। पहले ही दिन बोला, पुजारीजी सीधा ज़्यादा लेते हो—बोलो, साले हम अपने लिए लेते हैं—जितना भगवान् के लिए चाहिए उतना ही तो लेंगे, कम कैसे लें ? शास्त्रों में लिखा है सेर-भर घी तो हम पाव-भर लेकर क्या नरक में पड़ें ? अगर न हो तो तू हमारी छाती पर चढ़कर आए ! और सौ बातों की एक बात तो यह कि कोई दूसरा सस्ता मिलता तो दूसरा लगा लेता—क्यों हाथ-पैर जोड़े थे ?" पुजारीजी के मुँह में झाग आने लगे। सेठजी चिंघाड़ रहे थे—"जेब काट ले···"



कमज़ोरी



कमज़ोरी

जाड़े के दिन, तेज़ वर्षा के साथ ओले, तीखी हवा और बिजली की कड़क।

उपेक्षा भाव से मस्त खड़ा पेड़ लहरा रहा था, जैसे नहा रहा हो। यह उसकी नई उम्र की शक्ति का अभिनन्दन था। ओले उसे फूलों-से लगते; रग-रग में उसकी शक्ति और आत्म-विश्वास हिलोरें लेते।

काँपती-ठिठुरती, घायल, चोट खाई नेवली ने आकर कहा—"भैया, मुझे जगह दो!"

"जगह? जगह-ही-जगह है, जहाँ चाहो लो।" पेड़ ने लापरवाही से कहा।

"नहीं, मुझे शरण चाहिए—तुम्हारे स्नेह की शरण! तुम शक्ति-शाली हो, प्रकृति के प्रहारों को हँसते-हँसते सह सकते हो। प्रकृति तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ पाती। मुझे अपनी छाया में ले लो, बचा लो।" ठंड

से थर-थर कांपती नेवली गिड़गिड़ाई।

पेड़ उस छोटे-से निरीह प्राणी को देखकर दयार्द्र हो उठा। बोला—"अच्छा, मेरे पास जहां भी तुम्हें अपने मन लायक जगह मिले, जहां भी तुम उचित समझो, रहो।".

कृतज्ञ नेवली ने पेड़ का एक चक्कर लगाया। ऊपर गई, नीचे आई, बोली, "भैया, तुम्हारी बनावट इतनी पुष्ट है कि मुझे कहीं जगह ही नहीं मिल रही। तुम स्वयं ऐसा भाग बता दो, जहां मैं अपने रहने लायक जगह बना लूं।"

पेड़ स्नेह से हंसा, दया से बोला, "मेरे बाईं तरफ़ मेरा सबसे कमजोर हिस्सा है, वहीं अपने लायक जगह खोद लो।"

नेवली ने जगह खोद ली और रहने लगी।

कुछ समय बाद उसका प्रेमी नेवला आया। जगह की कमी पड़ी तो उसने फिर पेड़ से प्रार्थना की—"भैया, थोड़ी जगह और। इसके बिना मैं रह नहीं सकती।"

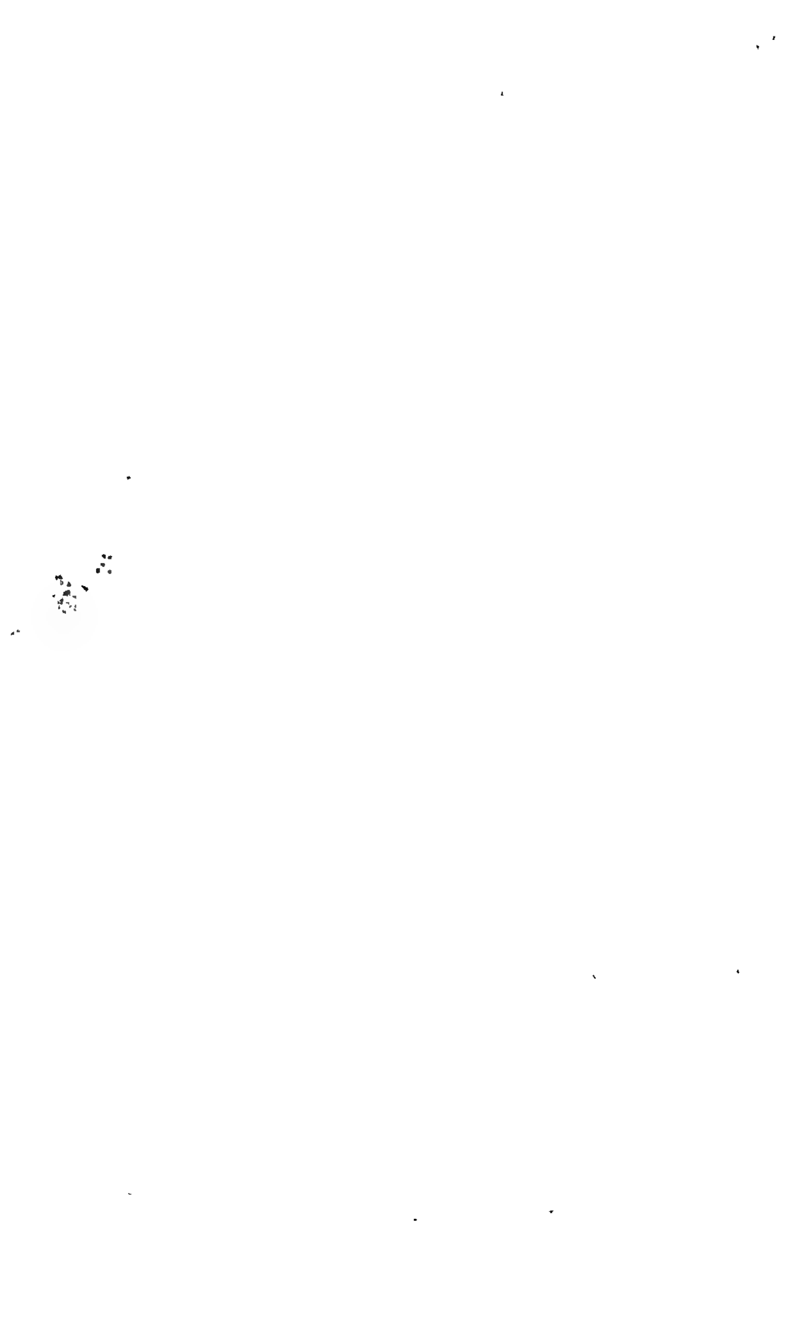
और अनुमति पाकर उसने और जगह खोद ली। उस परिवार में बच्चे आये तो नेवली ने बिना अनुमति लिये ही और जगह बना ली। पेड़ उसके इस स्नेह के अधिकार पर पुलक कर बड़प्पन से मुस्कराया।

एक साल बीत गया।

फिर जाड़ा आया, वर्षा हुई, ओले पड़े। नेवली-परिवार के कारण इस बार पेड़ की जड़ इतनी खोखली हो चुकी थी कि इस झोंके को वह सह नहीं सका और भहराकर सिर के बल गिर पड़ा।

लेकिन नेवली इस आंधी-पानी से पहले ही अपने परिवार के साथ दूसरा सहारा खोज चुकी थी।

लंच टाइम



लंच टाइम

अपना काला चोगा चमगादड़ के परों की तरह फड़फड़ाते वकील साहब ने कमरे में घुसते हुए पूछा—"क्यों इतनी ज़ोर-ज़ोर से हँस रहे हो ? क्या बात हो गई ?"

वकील साहब के आते ही तीनों चुप हो गए थे, लेकिन हँसी थी कि मुस्कराहट बनकर फूट पड़ रही थी। ज्योति ने ब्रज की तरफ देखा और मेज़ के कोने पर सिर टेककर खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसने साड़ी का पल्ला मुंह से लगा लिया। ब्रज दूसरी ओर मुँह करके उस हँसी पर अधिकार पाने की असफल कोशिश करता हुआ फट पड़ता था। उनकी आंखों में आंसू आ गए। दत्त ने सांस रोककर अपना अधिक-से-अधिक ध्यान इन हंसते हुए लोगों से हटाकर जैसे अनजान बनकर पूछा—"लंच हो गया ?"

"हाँ जी।" मुँह में सिगरेट लगाकर वकील साहब माचिस की डिबिया

पर सींक मार रहे थे, उन्होंने सिर हिलाया।

"क्या हुआ ? सरकारी वकील ज्यादा क्रास कर रहा है क्या ?" दत्त ने न चाहते हुए भी देख लिया कि व्रज ज्योति की तरफ़ उसके वारे में इशारा कर रहा है—देखा साला कैसा गम्भीर वनकर वातें कर रहा है ! उसके पेट में वगूला-सा उठा और सारी गम्भीरता झटके से उड़ गई। वह भी फटकर हंस पड़ा, और एकदम उठकर वाहर वरामदे में भाग गया। दोनों मुन्शी और एक मुवक्किल आश्चर्य से आँखें फाड़े, मुस्कराते हुए इनकी हँसी में सहयोग दे रहे थे।

वकील साहव ने पहला जोर का कश खींचा और इधर-उधर देखकर पूछा, "क्यों भाई, आखिर कुछ वात भी तो बताओगे ?" वे यहाँ का माहौल देखकर मुस्कराए।

इस पर दोनों फिर हँस पड़े। दत्त वाहर वरामदे में खम्भे के पास खड़ा हंस रहा था। वकील साहव ने मुंशी रामस्वरूप से कहा—"मुंशीजी, क्या वात है ?"

मुन्शीजी ने हाथ की मिसिल के काग़ज़ों को उलटा-सीधा करना छोड़कर इन दोनों की ओर देखा, फिर मुस्कराते हुए कहा—"साहव, अभी देवीसहायजी आये थे..."

"आपको ढूंढ़ते हुए तो गये ही थे, मिले नहीं ?" ज्योति ने तर्जनी से सुनहली कमानी का चश्मा जरा ऊपर उठाकर, साड़ी के पल्ले से आँखों की कोरों का पानी पोंछते हुए पूछा।

"कौन देवीसहाय ?" वकील साहव ने याद करने की कोशिश की। असल में उनके दिमाग़ में अभी चलते मुकद्दमे के सवाल-जवाव ही गूंज रहे थे। लंच टाइम में झुंझलाए हुए वे चैम्वर से भागे आ रहे थे। दिमाग़ परेशान था। और भी अधिक चिड़चिड़ाहट हो रही थी उन्हें, कुतिया के पीछे लगे पिल्लों की तरह अपने साथ दोनों ओर चलते मुवक्किलों से—"वकील साहव, इस मुकद्दमे में क्या होगा ?" "सरकारी वकील तो यह कहता है।" इत्यादि पूछ-पूछकर उसकी तो नाक में दम

किये डाल रहे थे। वकील साहब ने उन्हें झिड़क दिया था—"अरे भाई, मुझे कुछ सोचने भी दोगे या यों ही दिमाग़ चाटे जाओगे ? मुकद्दमा खराब हो जायगा तो कहोगे कि यह हुआ वह हुआ।" मोटी-मोटी किताबों के गट्ठर और लॉ रिपोर्टर की फाइलें लिये दोनों मुवक्किल सहमकर पीछे ही रह गए थे। वकील साहब ने सिगरेट का कश खींचकर बाहर खड़े दत्त से कहा—"चाय के लिए कह दिया ?"

"जी साहब, अभी आ रही है।" दत्त ने बड़ी तत्परता से उत्तर दिया। फिर वह भीतर आकर अपनी कुरसी पर बैठ गया।

"वही देवीसहाय सा'ब, टल्लूमल फ़र्म से जिनका छः महीने की तनखा का मुकद्दमा है।" मुंशी ने बताया।

"ओह !" वकील साहब को याद आ गया, फिर उन्होंने इधर देखा।

"कह रहे थे, हमारी तनखा वकील साहब दिला दें तो अपनी लड़की की शादी कर दें। बड़ी लड़की को 'छूछक' भेजना है। कोई उनकी भांजी व्याही जा रही है सो उसे भात देना है।" दत्त ने बताया। वह एक बार वकील साहब की ओर देखता और एक बार ब्रज और ज्योति की ओर। वे दोनों एकदम हँस पड़ने के मूड में मुंह पर हाथ रखकर देख रहे थे।

"वकील साहब क्या अपनी जेब से दे दें ? वाह यह अच्छी कही ! तुम्हारा तो अदालत में मुंह न खुले और वकील साहब रुपये दिला दें !" गुस्से के मारे वकील साहब ने एक झटके से नाक में से ढेर-सा धुआं निकाल डाला और दो उंगलियों से चोगे के भीतर से झांकती कमीज़ के कालर पर बंधी कलफ-लगी सफ़ेद मलमल की पट्टी को ज़रा ठीक किया। उनकी अँगूठी का हीरा ज़ोर से चमक उठा।

"देखिए, वह आ गए।" ब्रज ने कहा, ज्योति और दत्त ने भी आँखें उठाकर उधर देखा। वकील साहब जान-बूझकर गम्भीर बने बैठे रहे। सारा वातावरण शान्त हो गया।

बीच की एक लम्बी चली जाती गैलरी के दोनों ओर वकीलों के

कमरों के दरवाज़े थे, और इन दरवाज़ों के बिलकुल सामने कमरों के दूसरे दरवाज़े इस गैलरी के समानान्तर चले जाते बरामदे में खुलते थे। इस ओर के कमरे वाले बरामदे में सैकड़ों आदमी—वकील, मुवक्किल, टाइपिस्ट, चपरासी, गवाह और अन्य लोग—आ-जा रहे थे। अदालत के लंच का समय था, इसलिए फल वाले, दाल-सेव वाले और वकीलों के कमरों में चाय-पानी पहुँचाने वाले नौकर इधर-से-उधर भाग रहे थे। इस भाग-दौड़ में आधे वकीलों के मुंशी थे जो अदालत के समय उनकी किताबों तथा मिसिलों के बस्ते सँभालते थे और शेष वक्त में साग-सब्ज़ी लाने और बच्चों को स्कूल पहुँचाने का काम कर देते। बरामदे के दरवाज़े में तभी लगभग अड़तालीस साल का एक व्यक्ति नमूदार हुआ। यह व्यक्ति बहुत धीरे-धीरे जैसे घिसट-घिसटकर चल रहा था। पीला और बहुत पुराना-सा मुड़ा-तुड़ा कोट, घुटनों से ज़रा नीचे लटकी धोती, काली पतली-पतली टाँगें और बाटा के किरमिच के जूते। शायद ख़रीदने के बाद से उन पर सफ़ेदी नहीं हुई थी और फीतों का दूर-दूर तक पता नहीं था। दोनों जूतों की जीभें दुमकटे कुत्तों की पूँछ की तरह उठ आई थीं। अँगूठे और छोटी उँगली की जगह दो छेद हो गए थे। कमीज़ के बटन नहीं थे और सिकुड़ी छाती के सफेदी की ओर बढ़ते भूरे बाल झाँक रहे थे, बनियान नहीं थी। दोनों कंधे इस तरह ऊपर उठे थे और कमर कुछ इस तरह झुक गई थी जैसे उनके दोनों कंधों को पकड़कर किसी ने ज़ोर से दबा दिया हो। गरदन अपेक्षाकृत लम्बी और टेंटुआ उभरा हुआ। नाक के दोनों ओर आँखों के नीचे से होंठों के सिरों तक दो मोटी-मोटी झुर्रियाँ चली आई थीं। दो दिन की बढ़ी दाढ़ी वाली चमड़ी में सफ़ेद बाल चमक रहे थे। टीन के फ्रेम का अंडाकार मैले-गंदे काँचों का चश्मा—जिसका एक काँच टूट गया था और दूसरी ओर से मैले-से डोरे से कान पर बांधा गया था। कान ज़रा बाहर की ओर निकले हुए। निस्तेज आँखें और आधे पागलों की-सी बेवकूफ़ निगाहें। झुर्रियोंदार माथा और आध-आध इंच के खिचड़ी बालों की चारों ओर

पट्टी—क्योंकि चाँद के बीच की बड़ी-सी गोल चिंदियाँ गंज के कारण गायब थी। हाथ में डोरों से बुना एक थैला लेकर इन्होंने प्रवेश किया। इनकी चाल-ढाल और सूरत-शक्ल से लगता था कि इन्होंने निश्चय ही बही के आगे बैठकर ज़िन्दगी-भर कलम घिसी है।

"आओ बाबू देवीसहायजी, वकील साहब आपको ही पूछ रहे थे।" कमरे के बीचों-बीच रखी मेज़ के चारों ओर ये लोग बैठे थे और उस दरवाज़े की ओर वकील साहब की पीठ पड़ती थी। ब्रज बिलकुल सामने था, बाईं ओर दत्त और दाहिनी ओर ज्योति। ब्रज ने उन्हें देखते ही स्वागत में कहा। ये लोग इसी साल ग्रेजुएट होकर आये थे और इन वकील साहब के यहाँ काम सीखते थे। तीनों ही एक-दूसरे की दृष्टियों को बचा रहे थे।

तभी नौकर इन लोगों के बीच में ट्रे रख गया। इस बड़ी-सी प्लेट में ककड़ी के पाँच-छः सैंडविच थे। वकील साहब ने आखिरी कश खींचकर सिगरेट एक ओर कोने में फेंक दी और झटके से उठकर सीधे होते हुए बोले—"आओ बाबू देवीसहायजी, बैठो।" और अत्यन्त ही व्यस्तता से वे इस तरह सैण्डविच उठाकर खाने लगे जैसे यह वाक्य उन्होंने किसी को भी सम्बोधित करके नहीं कहा हो। दत्त चार प्यालों में चाय बना रहा था। वहाँ कोई बैठने की जगह नहीं थी।

बिलकुल वकील साहब के पास आकर देवीसहाय ने इधर-उधर बैठने के लिए जगह देखी। पास पड़े तख्त पर अपने लाल बस्ते, मिसिलों के पुलन्दे और अन्य काग़ज़ात फैलाए दोनों मुंशी दीवार से लगे बैठे थे। वे दोनों ही किसी मिसिल में से देखकर किसी के सम्मन पर नाम और वल्दियत लिख रहे थे। एक बोलता, दूसरा लिखता। एक ने काग़ज़ ज़रा नाममात्र को हटाकर तख्त के कोने पर ज़रा-सी जगह बनाकर उन्हें बैठने को जगह देते हुए कहा—"बैठो बाबूजी, यहाँ बैठो।" वे फिर काम में लग गए।

देवीसहाय ने बड़े सँभालकर बेंत को तख्त से इस तरह टिकाया

जैसे ज़रा ज़ोर से रख देंगे तो उसके लग जायगी। फिर स्याही के धब्बों से भरी बहुत ही पुरानी-फटी दरी वाले तख़्त के कोने पर हाथ टेककर उस पर बहुत धीरे से बैठ गए। बड़े आहिस्ता से गोद में उन्होंने थैले को रख लिया और उस पर सावधानी से दोनों हाथ रखकर वे जैसे किसी रहस्य को खोलने की मुद्रा में वकील साहब की ओर झुक गए। वे इस तरह हांफ रहे थे जैसे बहुत दूर से चले आ रहे हों।

"हूँ।" वकील साहब ने जल्दी जताने के लिए घड़ी की ओर देखा और घोड़े की नाल की साइज़ का कटाव बनाते हुए मुँह भरकर सैण्डविच कुतर ली। फिर चाय का कप होंठों की ओर बढ़ाया। इस 'हूँ' का मतलब था—जल्दी कहो, क्या बात है ?

देवीसहाय ने तीनों की ओर देखा, फिर नाक के स्वर में गिनगिनाते हुए कहा—"वकील साहब, हमारी तनखा कब तक मिल जायगी ?"

तीनों खिलाड़ी फिर हँसने को हो आए। वकील साहब ने कहा—"बाबू देवीसहायजी, तुम तो कभी-कभी बेवक़ूफ़ों की-सी बातें करते हो। जब तक मुकद्दमा खतम नहीं होगा तब तक रुपये कैसे मिल जायेंगे ?" होंठों से कप लगाकर उन्होंने ज्योति की ओर देखा।

इसी बीच दत्त ने ज़रा ज़ोर से, जैसे किसी ऊँचा सुनने वाले से कह रहा हो, कहा—"वकील साहब कहते हैं आपसे अदालत में बोला तो जाता नहीं है ?"

देवीसहाय ने वकील साहब की ओर देखा, जैसे पुष्टि करना चाहता हो—क्या सचमुच वे ऐसा कह रहे हैं ? फिर डरे हुए अपराधी बच्चे की तरह कहा—"अब के तो वकील साहब, मैंने बयान बड़े अच्छे दिये थे।"

"हाँ, अब के तो ठीक थे।" वकील साहब ने गैलरी के पार सामने वाले वकील के कमरे में देखते हुए कहा।

"एक बयान और करवा दो, अब के ऐसे दूँगा कि बस मामला पार हो जाय।" देवीसहाय ज़रा जोश में आ गए।

"वह तो जब होगा तब होगा।" वकील साहब ने प्याला ट्रे में रख दिया।

"नहीं, एक बयान मेरा वैरी गुड और करा दो।" देवीसहाय ऐसे गिड़गिड़ाए जैसे पैर छू लेंगे।

"वकील साहब कह रहे हैं, तुम्हारे वैरी गुड बयान हो जायंगे। चिन्ता मत करो।" वकील साहब ने विरक्तिपूर्वक व्रज को देखा कि टालो इस बला को। इस 'वैरी गुड' शब्द पर तीनों फिर इधर-उधर गरदन घुमा-घुमाकर हँसने लगे थे।

"हाँ वकील साहब, मुझे रुपये की बड़ी ज़रूरत है। साला मकान वाला तंग कर रहा है। तुम्हारी बड़ी लड़की के लड़का हुआ है सो छूछक जाना है। भांजी को भात देना है, और घर पर तुम्हारी बहू बीमार धरी है दो महीने से। रुपये दिला दोगे तो छोटी लड़की के हाथ पीले कर दूंगा।" वे कहते रहे।

शायद यही बातें वे इसी तरह कहकर गये थे, क्योंकि इस बार तीनों बुरी तरह खिलखिलाकर हंस पड़े। ज्योति के मुंह में तो चाय थी, उसे एकदम सटकनी पड़ी, बुरी तरह खांसी आ गई।

तभी मुंशी रामस्वरूप बोले—"बाबू देवीसहायजी, वकील साहब का शुकराना तो दिलवाओ।"

"सब दिलवाऊँगा, चिन्ता मत करो।" उन्होंने मुंशीजी की ओर पंजे फैलाकर उन्हें सान्त्वना दी।

मुंशीजी खिसककर मेंढक की तरह मिसिल और किताबें पार करते देवीसहायजी के पास आ गए—"चिन्ता तो कर ही नहीं रहे। आज तो कुछ दिलवाओ।"

"अभी कहाँ, रुपये मिल जायेंगे..." वे बुद्धू की तरह इधर-उधर देख रहे थे। असल में उन्हें इन लोगों की हँसी का कारण नहीं समझ आ रहा था।

"भैया, बाबू लोगों को जब तक कुछ खिलाओ-पिलाओगे नहीं,

इन्हें जोग कैसे आएगा ?" मुंशी उनके कन्धे पर हाथ रखकर बोला।

"मुंशीजी, तुमने इनकी अर्ज़ी दाखिला दे दी ?" वकील साहब ने नई सिगरेट जला ली थी और बात करते समय उनकी नाक और मुंह दोनों से धुआं निकल रहा था।

तभी वे दोनों मुवक्किल, जिनसे पीछा छुड़ाकर वकील साहब आये थे, कमरे में आ गए। तख्त पर किताबें सँभालकर रखते हुए उन्होंने फिर सहमी-सी निगाह से वकील साहब की ओर देखा और आज्ञा की प्रतीक्षा में अर्दली की तरह खड़े हो गए।

"अभी नहीं साहब !" मुंशीजी ने वकील साहब की बात का जवाब दिया, फिर देवीसहाय के कान के पास मुंह लाकर कहा—"बाबू देवी-सहाय, एक रुपया सात आने दिलवाओ, अर्ज़ी दाखिल देनी है।"

"एक रुपया सात आने ! पहले रुपये दिये थे सवा सौ···" देवी-सहाय के मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं।

"अरे पहले रुपये कोर्ट फ़ीस थी, ये तो देखो, छः आने छापने के ···" मुंशी ने उंगलियां हवा में सरगम की तरह चलाईं, जिसका अर्थ था टाइप। "एक आना काग़ज़ और एक रुपये के स्टाम्प। लाओ निकालो।"

देवीसहाय ने जैसे सहायता के लिए देखा। वकील साहब ऊपर मुंह करके पंखे पर आंखें गड़ाए मुंह से धुआं निकालते कुछ सोचने लगे थे। तीनों खिलाड़ी ताक लगाए घूर रहे थे कि अब क्या बेवकूफ़ी की बात आती है कि तीनों हँस पड़ें। देवीसहाय ने फिर अपनी जेबें टटोलीं।

"जब तक अर्ज़ी नहीं दी जायगी तब तक कैसे अगली पेशी होगी ?" मुंशी उन्हें समझा रहा था।

उन्होंने बड़े मरे और कांपते हाथों से चारों जेबें टटोलने के बाद कहीं भीतरी जेब में चश्मे की एक बहुत पुरानी डिबिया निकाली। उसके चारों ओर कसकर कई बार सुतली से लपेटे दिये गए थे। सब लोग ऐसी

उत्सुकता से उन्हें देखने लगे जैसे अभी उसमें से कोई सांप निकलेगा। देवीसहाय ने सुतली खोल डाली, फिर बड़े सँभालकर डिबिया खोली। बहुत पुराने नीले-गन्दे मखमल पर कुछ कागज, जिनमें एक पर जन्म-कुण्डली के नक्शे चमक रहे थे, एक अस्पताल का परचा और एक-एक रुपये के कुछ नोट रखे थे। उन्होंने डिबिया तख्त पर रख दी और नोट उठाकर मुँह से उँगली द्वारा थूक लेकर इस तरह गिनने लगे, जैसे सौ-दो सौ नोट हों, लेकिन वे थे चार ही। एक बार गिनकर दुबारा गिनना शुरू किया…

"अभी तो एक बार और गिनेंगे।" दत्त ने ज्योति को बताया।

"आपसे तो नोट भी नहीं गिने जाते हैं, लाओ मैं गिनूं।" और एक तरह से मुंशी ने रुपये उनके हाथ से छीन लिए, वे रोकते रह गए।

"मुंशीजी, एकाध रुपया इनसे ज़्यादा ले लीजिएगा, बाद में ज़रूरत पड़ती है। नोटिस की रजिस्ट्री होगी।" वकील साहब को जैसे याद हो आया।

नौकर ट्रे उठा ले गया।

"सरकार…" देवीसहाय एकदम जैसे बौखला गए। एक बार मुंशीजी की ओर मुड़े और एक बार वकील साहब की।

"सरकार क्या होता है? फिर एक अर्ज़ी भी दाखिल करनी हो तो हमें रुकना पड़ता है। हम तुम्हारे पीछे कहां-कहां मारे फिरेंगे?" वकील साहब ने झिड़का।

"वकील साहब कहते हैं, तुम तो रोड इन्सपेक्टर की तरह सड़कें नापते हो।" ब्रज ने फिर ज़ोर से कहा, तीनों फिर हंस पड़े। रुपये मुंशीजी ने सब मोड़कर जेब में रख लिये और तख्त पर रखी डिबिया को ज़ोर से बन्द कर दिया।

"देवीसहायजी, ये बीबीजी कह रही हैं, कुछ मछली-वछली नहीं खिलवाओगे। ये कहती हैं, वकील साहब और मुंशीजी को तुम कैसे

ही न कैसे समझ लोगे, कुछ हम बाबू लोगों को भी तो मिल जाय।" दत्त ने बड़ी गम्भीर मुद्रा बनाकर ज्योति की ओर संकेत किया।

रुपये छिन जाने से देवीसहाय बड़े हतप्रभ हो गए थे। मुंह पर एक झुर्री आती एक जाती, जैसे बड़े उद्विग्न हों। उन्होंने बड़ी निर्जीव आँखों से ज्योति की तरफ़ देखा, यह जानने के लिए कि क्या सचमुच बीबीजी ऐसा कह सकती हैं? ज्योति ने कुहनी मेज़ पर टिका ली थी, और हथेली पर ठोड़ी टिकाए, चुपचाप दार्शनिक मुद्रा में यह सब देख रही थी। जब तक वह हँसती नहीं थी उसकी आँखें बड़ी निस्तेज और बुझी-बुझी-सी रहती थीं, मुख ऐसा भावहीन जैसे कभी हँसना-मुस्कराना और चमक नाम की चीज़ इसने जानी ही न हो। एक ऐसा बुझापन और रूखापन उसके चेहरे पर था जो अक्सर निर्जीव विषय को रात-रात-भर पढ़ने वालों के चेहरे पर आ जाता है। उसने कोई भाव नहीं दिखाया।

"ये कहती हैं, हमें गोल वाली मछली खिलाना, चपटी नहीं।" ब्रज ने जोड़ा।

वे कुछ कहें इससे पहले ही मुंशीजी बोले—"खिलाएँगे साब, खिलाएँगे। ज़रा इनका मुकद्दमा ठीक हो जाय बस...फिर चाहे जितनी खाइए। इनकी छोटी लड़की तो मछली बड़ी अच्छी पकाती है। आप सबकी दावत करेंगे।"

"हमें कैसे मालूम हो, अभी तक तो इन्होंने एक पान भी नहीं खिलाया।" दत्त बोला। "क्यों देवीसहायजी, देखो बाबू लोग क्या कह रहे हैं?" मुंशीजी ने इस तरह कहा जैसे इस बात का उन्हें ज़रा भी पता नहीं था। फिर उन्हें समझाने के स्वर में बोले—"ऐसे कहीं कुछ काम होता है, बाबू लोगों को खुश रखा करो। इस थैले में क्या है?" उन्होंने थैले की ओर हाथ बढ़ाया।

देवीसहाय जैसे तन्द्रा से चौंक उठे हों, उन्होंने जल्दी से थैला बचाने के लिए दूसरी तरफ़ रख लिया। बड़ी मुश्किल से हकलाकर बोले—"कु...कुछ...नहीं।"

"अरे तो ऐसे मरे क्यों जाते हो, लाओ मैं देखूं !" मुंशीजी ने झपटकर थैला छीन लिया। देवीसहाय ने उसे पकड़कर थोड़ा खींचा, लेकिन मुंशीजी का खिचाव ज़्यादा था। उन्होंने बड़ी असहाय और निरीह दृष्टि से चारों तरफ़ देखा।

मुंशीजी ने थैला हाथ में लेकर उन्हें समझाया, "जब तक बाबू लोगों को ख़ुश नहीं रखोगे, कैसे ये लोग वकील साहब से आपके काम की सिफ़ारिश करेंगे !" कहकर उन्होंने थैले की आपस में बँधी तनियां खोल डालीं और उसमें से एक मैला तौलिया निकालकर एक तरफ़ रख दिया।

देवीसहाय के होंठ फड़फड़ाए। उन्होंने फिर एक बार विरोध करने के लिए हाथ फैलाए, लेकिन मुंशीजी ने झिड़क दिया। उसने थैले से दो शीशियाँ निकालकर तख़्त पर खड़ी कर दी थीं—एक छोटी, एक बड़ी। दोनों में दवा भरी थी और काग़ज़ के ख़ूराकों के निशान काट-कर चिपकाये हुए थे। सब लोग फिर ग़ौर से देखने लगे थे—देखें अब इसमें से क्या निकलता है ?

मुंशीजी ने चार संतरे, तीन मोसम्बी और एक सेब निकालकर मेज़ के सिरे पर रख दिए।

"आज तो देवीसहायजी, बड़ा माल लिये आ रहे हो और कह रहे थे कुछ नहीं है।" दूसरा मुंशी वहीं दीवार के सहारे से बोला।

"अरे साहब, ये देवीसहायजी बड़े ख़ुशमिज़ाज आदमी हैं। ज़रा आपकी थाह ले रहे थे।" कुटिलता से मुस्कराकर मुंशी रामस्वरूप ने कहा, "क्यों, है न देवीसहायजी ?"

"तो ये हमारे लिए लाए हो !" ब्रज की आँखों में चमक आ गई।

"हाँ-हाँ खाइए।" इस बार बड़ी मुश्किल से जैसे गले में अटके कफ़ को साफ़ करके देवीसहाय मुस्कराये—लगा, रोने लगेंगे।

"अरे खाइए बाबू साहब, आप तो देख रहे हैं।" मुंशीजी ने संतरे के छिलके में अँगूठा गड़ाकर छील डाला।

फलों में हिस्से-बाँट हो गए, और देवीसहाय ने मरे-मरे हाथ से तौलिया थैले में डाला, ऊपर से शीशियाँ ठूँसीं और थैला खड़ा करके चुपचाप संतरे और मोसम्बियाँ चूसी जाती देखते रहे।

तीनों खिलाड़ी बड़े प्रसन्न थे। कुछ हिस्सा मुंशियों को भी मिल गया था। वकील साहब बड़े ग़ौर से सामने खुली किताब में कुछ पढ़ते हुए दूसरे हाथ में छिले हुए संतरे की फाँकें पकड़े रहे—याद आ जाता तो मुँह में एक डाल लेते। देवीसहाय बुद्धू की तरह इधर-उधर देखते रहे। सब लोग अपने-अपने कामों में व्यस्त थे। उन्होंने छड़ी उठाई, थैला पकड़ा और उठ खड़े हुए।

"तो बाबूजी, मैं जाऊँ?" कुछ देर खड़े रहकर उन्होंने वकील साहब से झिझकते स्वर में पूछा।

वकील साहब सोते से जागे। खूब ज़ोर से सिराई लाकर बोले—"हाँ अब तुम जाओ···और हाँ, चिन्ता मत करो···सब हो जायगा। तुम्हारे पैसे हम दिला देंगे।" वे फिर डूब गए।

मुंशी ने तभी कहा—"ऐसे थोड़े ही मिलते हैं रुपये! सबको तो तुमने खुश कर दिया, मुंशीजी क्या भाड़ में जा पड़ें? अरे एक-दो आने बीड़ी के तो देते जाते।" और उसने निःसंकोच और बेलाग होकर देवीसहायजी की सारी जेबें ऊपर से टटोल डालीं, फिर टेंट भी इस तरह टटोली जैसे थाने में किसी जेबकट की तलाशी ली जाती है। कुछ नहीं था।

"जाने दो बेचारे को, ज्यादा तंग मत करो।" वकील साहब ने बीच में डिस्टर्ब होकर कहा।

"अच्छा जाइए, लेकिन भूलना मत···।" मुंशी ने काफ़ी अनुकम्पा-पूर्वक कहा।

देवीसहाय पाँव घिसटाते-घिसटाते बाहर की ओर चल दिए। ज्योति एकदम सचेत होकर अपनी उँगली मेज़ पर रख-रखकर बता रही थी—"पहले यह कह रहे थे···कैसे उन्होंने 'वैरी गुड' बयान दिया था। जज

ने पूछा यह बात हुई, इन्होंने कहा 'नो' लिखो 'नो', और उस वक्त तक अपना बयान रोके रखा जब तक जज ने 'नो' नहीं लिख लिया…" तीनों फिर हँस पड़े।

"बेवकूफ़ है…" वकील साहब कह ही रहे थे कि बाहर किसी कोर्ट में चपरासी ने ऊँची आवाज़ में बांग दी—"रघुमल मुन्नेलाल हाज़िर हैऽऽ।"

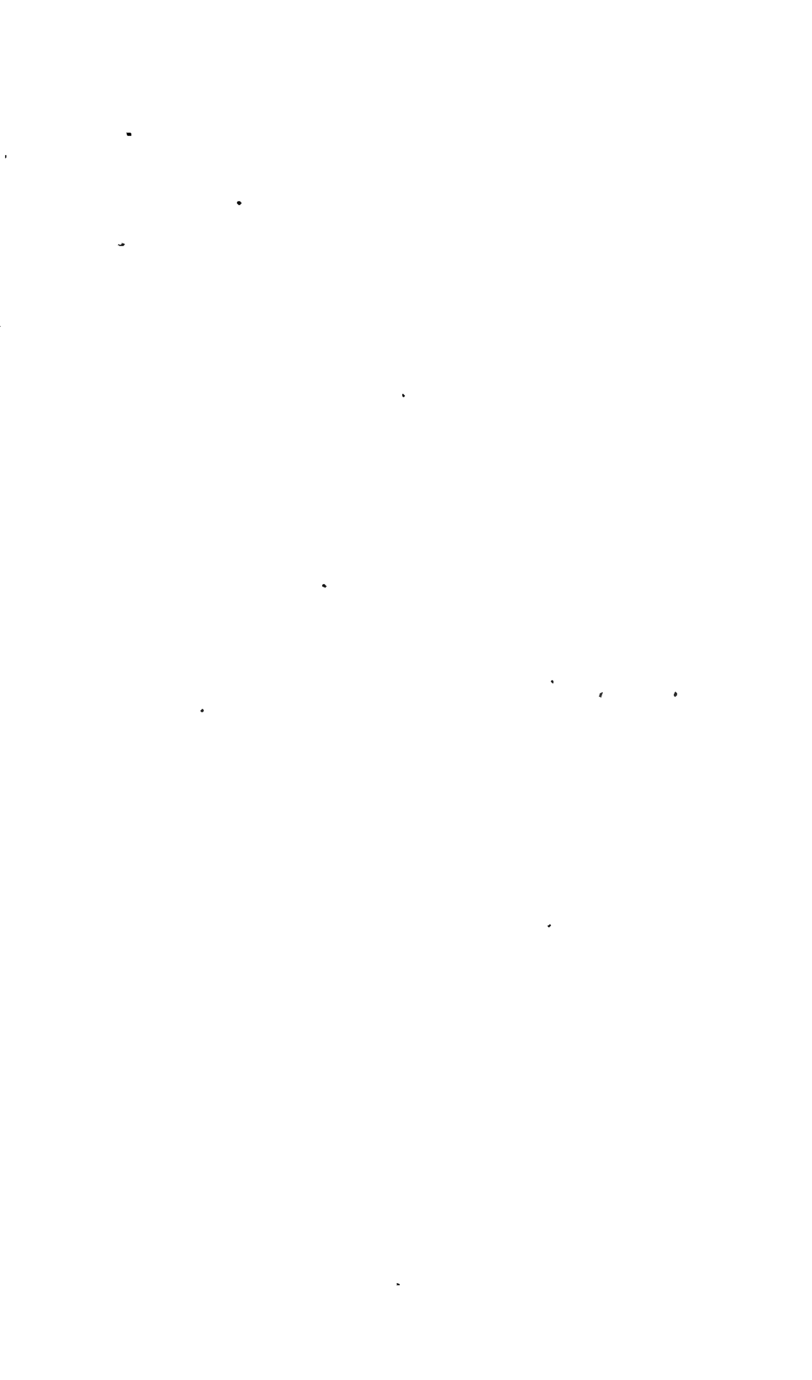
लंच टाइम खतम हो गया था। वकील साहब झटके से उठे। उनके गले की दोनों पट्टियाँ और कालर हिले।

उस समय बाहर वकील साहब के दरवाज़े के सामने बरामदे में खड़े देवीसहाय ने थैले में से एक-एक करके दोनों शीशियाँ निकालीं और डाट खोलकर करौंदे की झाड़ी में औंधी कर दीं। जब सारी दवा फैल गई तो उन्हें ज्यों-की-त्यों थैले में ठूँसा, ज़ोर से नाक साफ़ की और उँगलियों को खम्भे से पोंछते हुए डगमगाते कदमों से सीढ़ियाँ उतरने लगे।

तभी बरामदे से काली मुर्गी की तरह वकील साहब गुज़र गए— दो चूज़ों की तरह उनके साथ मुवक्किल दोनों ओर लगे थे।



साइकिल



साइकिल

एक बड़ा पहिया जैसे उसके दिमाग़ में छा गया और फिर बड़ी तेज़ी से घूम उठा। उसे सब-कुछ ऐसा धुंधला-धुंधला दीखने लगा जैसे वह बरसते पानी में भीगती खिड़की के कांचों के पार देख रही हो। फिर वह पहिया दूर, पीछे अँधेरे में हटता गया, हटता गया और सहसा दो पहियों में बदलकर उसकी खुली अपलक ताकती आँखों की पुतलियों में घूमने लगा। उसकी निगाह सामने कच्चे रास्ते पर जाती हुई बैलगाड़ी के मोटे-मोटे पहियों पर अटक गई। गाड़ी पर करब लदी थी और गाड़ीवान उसके ऊँचे पहाड़ के पीछे छिपा हुआ था। अक्सर उसका चाबुक लेकर उठता हुआ हाथ दिखाई दे जाता था। चाबुक पड़ते ही सिर हिला-हिलाकर बैल पीछे चौड़ी लीकें छोड़ते हुए दौड़ने लगते थे। पास वाले पहिये के ऊपर ही धुएं से काली एक लालटेन लटक रही थी। गाड़ी से ज़रा पीछे हटकर एक ग्रामीण युवक सिर पर एक पोटली और कंधे पर लाठी

रहे तथा चमरौधा चरमराता चला जा रहा था। गले में पड़े उसके दुपट्टे का एक छोर उसकी बगल में होकर पीछे गया था और लाल लहँगा पहने, घूंघट काढ़े एक स्त्री की पीली ओढ़नी के छोर से बंधा था। स्पष्ट ही, पीछे-पीछे चुपचाप चली आनेवाली उसकी नवविवाहिता पत्नी थी जिसे वह संभवतः विदा कराके ला रहा था। आसमान में नीचे उतरते सूरज की किरणों में उसकी ओढ़नी का गोटा चमक रहा था। कैसी गाय-सी वह पीछे-पीछे चुपचाप चली जा रही थी! रश्मि उसे देखकर सोचने लगी कि आगे जाती बैलगाड़ी और पीछे की इस जोड़ी में कितना साम्य है! बैल चल रहे हैं, और गाड़ी घिसट रही है। उससे अधिक नहीं देखा गया तो उसने झटके से खिड़की बन्द कर दी।

कुरसी पर बैठे-बैठे ही आनन्द ने पीछे मुड़कर देखा—"क्यों?" दृष्टि का प्रश्न मुखर हुआ—"खोल दो न? एकदम अँधेरा हो गया।"

तब सहसा सचेत होकर रश्मि ने खिड़की खोल दी, परदे ठीक कर दिए और बीच की पीतल की मेज पर कागज के सिकुड़े हुए फूलों को खोलती और पीतल के गमले के आस-पास सजे हाथी, घोड़े और बारहसिंगों को ठीक से रखती हुई बोली—"नहीं आ रहा तो आप क्यों अपनी चाय ठंडी किये दे रहे हैं? पी लीजिए, उसके लिए फिर बन जायगी।"

होंठों के कोने में हाथीदांत के होल्डर में लगी सिगरेट दबी थी और दोनों हाथों से अखबार फैलाये हुए आनन्द पीछे खिड़की से आने-वाले प्रकाश में अखबार पर निगाह अटकाये हुए था। यों ही ज़रा-सी कलाई घुमाकर घड़ी पर निगाह फेंककर उसने होंठों के दूसरे कोने मे धुआँ निकालते हुए कहा—"क्या हुआ? पांच बजकर कुल दस ही तो हुए हैं। आता ही होगा।" वह फिर अखबार में खो गया। दो क्षण बाद, जैसे उसे सहसा कुछ बात याद आ गई हो, एकदम बोला—"हाँ, तुम तैयार क्यों नहीं हो जातीं जल्दी से? यह क्या कर रही हो? सब ठीक है, जाओ कपड़े पहनो।"

"भई, मैंने कह तो दिया कि मेरा मन नहीं है।" दबे स्वर में रश्मि बोली। "फिर वही बात ! कुछ दूसरे का भी ध्यान रखा करो। अब एक भले आदमी से कह दिया है, तो ज़रा मन भी मारना पड़ता है।" आनन्द ने अखबार कपड़े की तरह समेटकर एक ओर फेंक दिया और सीधा तनकर सामने चाय की मेज़ की ओर झुकते हुए बोला—"जाओ ज़िद नहीं करते हैं। पिक्चर अच्छी है। मन लग जायगा। चैस्टर ले लेना। उधर से आने में ठंड हो जायगी।"

"अच्छी नहीं है।" ठिनगकर रश्मि ने कहा—"मिसेज़ बत्रा कह रही थीं कि किसी काम की नहीं है। आप हो आइए।"

"मिसेज़ बत्रा की आँखों ने देखी भी हैं कभी पिक्चरें ? बड़ी आईं राय देने वहाँ से ! किसी काम की नहीं है !" मुर्गे के आकार के केटली के गर्म खोल को उतारकर एक ओर रखते हुए आनन्द भड़क उठा—"बेकार सही, मैं कहता हूँ तुम्हें चलना पड़ेगा। एक भले आदमी से एपॉइण्टमेण्ट कर लिया है और बीबीजी के नखरे ही नहीं मिल रहे ! बेचारे ने पास का इंतज़ाम किया होगा, गाड़ी लेकर आयेगा, और आपसे यहाँ से निकला तक न जायगा।"

हाथ का काम रोककर एक बार रश्मि ने उधर देखा और जब वह ज़रा चुप हुआ तो बड़े डरते हुए बोली—"मेरी तरफ से एपॉइण्टमेण्ट करते वक्त ज़रा पूछ ही लेते फोन से।"

क्रोध के मारे सिगरेट को बुरी तरह ऐश ट्रे में ठूँसते हुए आनन्द ने कहा—"फिर वही अपनी ज़िद ! उस दिन साइकिल वाली बात की तरह आज फिर···।"

अभी तक रश्मि ज़रा चुप थी, दब रही थी। अब एकदम तेज़ स्वर में बोली—"साइकिल-साइकिल ! मैंने बीस बार कह दिया, मुझे नहीं सीखनी साइकिल ! फिर क्यों मेरे पीछे पड़े हो ? कॉलेज जाती थी तब तो सीखी नहीं, अब सीखूंगी ?" विद्रूप होकर उसने ज़ोर से सिर झटका और उसकी आँखों में आँसू छलछला आए।

"एक चीज़ सीख जाओगी तो क्या बुरा है ?" हालांकि रश्मि की इस बेकार की ज़िद से गुस्सा तो आनन्द को काफ़ी आ गया था, लेकिन आँसू देखकर वह सहम गया। "अभी थडानी आता होगा और उसके सामने यह सब बखेड़ा अच्छा नहीं लगता।"

"मुझे नहीं सीखनी, आख़िर कोई बात भी हो कि एक दिन उसने कह दिया कि आज की हर लड़की को साइकिल बड़ी ज़रूरी चीज़ है। अब दिन-रात मेरे पीछे पड़े हैं। कल कह देगा खेत जोतना अच्छा है। बस, मैं वह शुरू कर दूँ—मेरी अपनी कोई इच्छा ही नहीं है ?"

"लोग रोते हैं कि जो कुछ वे करना चाहते हैं उसके लिए सुविधा नहीं मिलती। यहाँ उसने इतनी बढ़िया साइकिल लाकर पटक दी है और मेम साहब के मन को ही नहीं भाती।"

"अच्छा मुझे बताइए, अच्छी लगूँगी मैं अब साइकिल चढ़ती ? और मुझे आखिर जाना कहाँ है ? दफ़्तर जाना नहीं, पढ़ने जाना नहीं। मैंने तो उससे नहीं कहा था कि तू साइकिल पटक जा। और साफ़ सुन लीजिए, मुझे आप लोगों की पिकनिक-विकनिक में कहीं नहीं जाना··· आपको जहाँ जाना हो—क्लब, पिकनिक, सभा, सोसायटी—वहाँ शौक से जाइए। मैं दोनों हाथ जोड़ती हूँ, मुझे माफ़ करो बाबा, मैंने तो सब-कुछ भर पाया।" और ज़ोर से रश्मि ने इस तरह दोनों हाथ जोड़े कि कलाइयों की चूड़ियाँ बुरी तरह झनक गईं। वह तेज़ी से दूसरे कमरे में जाते-जाते दरवाज़े पर परदा पकड़कर रुक गई और एकदम घूमकर बोली—"और ऐसा ही शौक है तो ड्राइविंग सिखाइए न, देखें कितनी हिम्मत है ?"

तभी अभ्यासवश हाथ बढ़ाकर दरवाज़े के एक ओर लगी हुई घण्टी बजाते हुए थडानी ने प्रवेश किया। हँसकर बोला—"ड्राइविंग की क्या बात कह रही हैं भाभीजी ?"

"बड़ी देर लगा दी ! तमाम चाय ठंडी हो गई।" आनन्द का अपना प्याला बन चुका था। वह उत्तेजना शान्त करने के लिए प्याले

में चीनी चलाते हुए सिर हिलाकर बोला—"असल में एक चीज़ पर निगाह पड़ गई। मैंने कहा अब इसे लेता ही चलूँ।" थडानी रश्मि की ओर देखता आनन्द की ओर बढ़ा। परिस्थिति भाँपने के लिए एक बार रश्मि और एक बार आनन्द को देख अपने चौड़े हरे मर्करी काँच के चश्मे की पतली-सुनहली कमानी मुट्ठी में पकड़कर चश्मा घुमाते हुए आनन्द के पास आ बैठा। दूसरा प्याला प्लेट में सीधा करते हुए उसने पूछा—"ड्राइविंग की क्या बात हो रही थी?" आनन्द ताज़े कटे हुए सेबों की प्लेट थडानी की ओर खिसकाकर, उसके कप में चाय डालने लगा। दूध डालता हुआ बोला—"कह रही थीं, क्या साइकिल सिखलाते हो! हिम्मत हो तो ड्राइविंग सिखाओ।"

"बस!" थडानी ने अपने स्वर से तुच्छता का भाव प्रकट किया। अपनी बाँहें झटककर विचित्र भाव दिखलाया। "अरे कोई और बड़ी बात कही होती! भाभीजी ने भी भई क्या बात कही है? ड्राइविंग कोई ऐसी अलभ्य चीज़ है? ज्यादा-से-ज्यादा कार दस हज़ार की आ जायगी। चलो तो फिर आज 'ताराचन्द झाऊमल' के यहाँ यही काम खत्म किया जाय। मारो गोली सिनेमा को। वह फिर कभी सही!...भाभीजी, आप तो तैयार भी नहीं..."

"अरे पागल हुए हो! मुझे ज़िंदा रहने दोगे या नहीं? वैसे ही लोग कानाफूसी करते हैं कि पता नहीं थडानी क्यों आनन्द का घर भर रहा है। दो-चार ठेके और मिल जायेंगे।" और मुस्कराते हुए आनन्द ने बढ़िया सिगरेट का डिब्बा खोलकर एक सिगरेट ज़रा आगे खींचकर थडानी की ओर बढ़ा दी।

"अजब बात करते हो।" एक ही घूंट में ठण्डी चाय का आधा प्याला पी गया और सिगरेट लेते हुए आँखें तरेरकर बोला—"इंजीनियर के यहाँ कार होना कोई ऐसी अनोखी बात है? और भरने का क्या, किसी के बाप का तो नहीं भरता?"

"नहीं यार, फिर भी नये इंजीनियर के यहाँ का यह सब ठाठ-बाट

लोगों की निगाहों में खटकता ही है। वैसे ही तुम्हारा चार-पाँच हज़ार सिर पर चढ़ गया है। यह सब कहाँ से दूँगा ? मुझे तो रात में नींद नहीं आती।"

"पार्टनर, यही सब बातें सुनकर मेरे तन-बदन में आग लग जाती है। मैंने कभी इस तरह की कोई बात कही ? मैं अब आगे इस घर में क़दम नहीं रखूँगा।" थडानी ने काफ़ी ऊँचे स्वर में उत्तेजित होकर कहा—"घर पड़े-पड़े इस रुपये का क्या होता ? बन्दा सबकी शराब पी जाता···।"

कृतज्ञता के भाव से मुस्कराकर जैसे उसे मनाते हुए आनन्द ने बिस्कुटों वाली प्लेट उसकी ओर बढ़ाकर कहा—"मेरा मतलब कहने का यह था कि बेकार पैसे क्यों फेंकते हो ? वॉयलिन ले आये थे, वह पता नहीं कहाँ पड़ा है, अब साइकिल लाकर डाल दी। तुम जानते हो वह नहीं सीखेगी।" फिर आवाज़ दी—"पहाड़ी, चाय का पानी दे जाओ।"

"अरे सब सीखेंगी, सीखेंगी कैसे नहीं, ड्राइविंग सीखेंगी, सायकिलिंग सीखेंगी—सब।" और रश्मि को सुनाकर कहा—"मैं बिलकुल मेम साहब बना दूँगा। देखिए भाभी ! क्या लाया हूँ ?" उसने एक ओर झुककर जेब से एक नीले मखमल की डिबिया निकालकर कहा—"आपका नाम 'र' से शुरू होता है न ? 'र' वालों के लिए हीरा बहुत ही शुभ माना गया है। ड्राइविंग में किसी बात का ख़तरा नहीं रहेगा···"

रश्मि परदा पकड़े ही सुन रही थी, अब उसे छोड़कर वह अन्दर चली गई।

"नाराज़ हैं।" बहुत धीरे से आनन्द ने बताया और प्रशंसा और कृतज्ञता-मिश्रित निगाहों से छोटे-छोटे हीरों जड़ी सुन्दर अँगूठी को हाथ में लेकर देखने लगा। उसे देखकर उसकी तबियत तो प्रसन्न हो गई थी, लेकिन चिन्ता के स्वर में पूछा—"कितने की है ?"

"छोड़ो।" थडानी ने हाथ बढ़ाकर अँगूठी छीन ली—"तुम्हारी किस्मत में यह सब नहीं है।"

"रश्मि, देखो तो।" आनन्द ने बेशरमी से मुस्कराते हुए दरवाज़े की तरफ इशारा करके कहा—"भीतर है, वहीं पहना दो।"

थडानी उठ खड़ा हुआ और घूमकर कमरे के दरवाज़े की ओर बढ़ा।

"ज़रा जल्दी तैयार होने को कह देना।" पीछे से आनन्द ने कहा। वह एक बड़े-से बिस्कुट को दोनों हाथों से पकड़कर धीरे-धीरे कुतरने लगा। और बस इसी बात से रश्मि कुढ़ जाती है। रश्मि को थडानी ज़रा भी अच्छा नहीं लगता, और आनन्द है कि हर समय उसे बीच में लाकर खड़ा कर देता है। वह जल्दी से दरवाज़े से हट गई। एकदम पूरा जूड़ा खोल डाला और सीधे ड्रेसिंग टेबल के सामने जाकर खड़ी हो गई। पीछे से घुमाकर सारे बाल सामने कर लिए और उन्हें एक हथेली पर फैलाकर दूसरे हाथ के कंघे से बालों पर ज़ोर-ज़ोर से प्रहार कर उन्हें इस प्रकार सुलझाने लगी मानों रुई धुन रही हो। ज़ोर के सर्राटे के साथ कंघा बालों में तैरता, कभी-कभी एकाध चिनगारी फूटती और टूटे हुए बालों का गुच्छा कंघे में उलझ रहता। अनजाने ही उसके होंठ कस गए। कंघा उठाते हुए उसने शीशे में देख लिया कि थडानी भीतर आ रहा है।

"भाभी, यह क्या आदत है आपकी? जल्दी तैयार हो जाइए न!"

रश्मि को अपनी भौंहें ढीली करनी पड़ीं, होंठों की ऐंठन में मुस्कान भरनी पड़ी। उसने मुड़कर कहा—"सच कहती हूँ थडानी साहब, मेरा मन जाने को ज़रा भी नहीं है। आप लोग हो आइए न?"

"ड्राइविंग सीखने को कह रही थीं न, चलिए चलते हुए किसी अच्छी गाड़ी का नया मॉडल देखते चलेंगे। जल्दी कीजिए, अब यों सुस्ती का काम नहीं है।" बिना उसे जवाब देने का मौका दिये हुए थडानी कहता गया, और बिलकुल पास जाकर ड्रेसिंग-टेबल की ज़रा-सी खुली दराज पर एक पांव रखकर बोला—"आपको पता है, आपकी राशि पर हीरा है? देखिए आज मुझे यह चीज़ बहुत पसन्द आ गई···।"

रश्मि पीछे हट गई। सबसे ज्यादा झुंझलाहट उसे इस आनन्द पर आ रही थी। क्यों इतना सिर चढ़ा रखा है इस लफंगे को? आये हो, ड्राइंग-रूम में बैठो। उसके मन में हुआ जोर से डाँटकर बाहर भगा दे। लेकिन उसने प्रशंसापूर्ण नेत्रों से डिब्बी की ओर देखते हुए अनजान बनकर पूछा—"किसके लिए? रानी के लिए लाये हो?" रानी थडानी की बहन है। "बता तो रहा हूँ, आपकी राशि पर हीरा है। देखिए कैसी लगती है?" और थडानी ने अँगूठी इस तरह उठाई कि रश्मि अपनी उँगली उधर बढ़ा दे। रश्मि को अपने पर नियंत्रण अब असह्य लगा। हाथ के कंघे को उसने मुट्ठी में कसकर पकड़ लिया। गम्भीर भाव से हथेली फैला दी कि रख दो।

"उंह!" हाथ हिलाकर थडानी ने इस तरह कहा जैसे पहनना हो तो उँगली में पहनो।

रश्मि का हाथ एक क्षण असमंजस में यों ही रहा। उसने बड़ी तीखी नजरों से एक क्षण को थडानी के मुस्कराते चेहरे को देखा, लापरवाही से, लेकिन सावधानी से बिखरे हुए रूखे-सुनहले बालों को देखा, उसके छिदे कानों को देखा, शायद बचपन में उसे कीलें पहनाई गई थीं, और फिर एकदम हाथ खींचकर अत्यन्त व्यस्तता से उसकी ओर से जैसे बिलकुल तटस्थ होकर कंघा चलाने लगी। अपने मुख पर उभर आए भावों को उसने छिपाने की जरा भी जरूरत न समझी।

थडानी थोड़ी देर देखता रहा और फिर छत की ओर मुँह कर जोर से खिलखिला पड़ा। उसने डिबिया नीचे मेज पर रख दी और ड्राइंग-रूम में आ गया।

बाहर आनन्द, सामने की दीवार पर टँगे एक रेगिस्तान का चित्र देखता हुआ, खड़े-खड़े टाई की गाँठ को ठीक कर रहा था।

कंघा जोर से मेज पर पटककर रश्मि इतनी जोर से पलंग पर जा गिरी कि पलंग की कमानियों ने दो-तीन बार उसे उछाल दिया।

× × ×

अँधेरे और सन्नाटे में खर-खर करती चमकदार तस्वीरों वाली रील चलती रही, और रश्मि आँखें फाड़े भीतर भुनती रही। गोद में रखे पर्स की घुंडियों को वह जोर से मरोड़कर कभी पर्स खोल देती, कभी बन्द कर देती। साफ़ बात है, उसे यह आदमी ज़रा भी पसन्द नहीं है। लेकिन आनन्द है कि······उसे ऐसा लगता है जैसे उसके 'भाभी' सम्बोधन में ही कहीं कुछ ऐसा है जो उसे सिहरा देता है। उसकी हर निगाह जैसे उसे तोलती है। रश्मि इस सबकी अभ्यस्त नहीं है। वह हृदय से इसे नापसन्द करती है लेकिन···लेकिन इसके एहसान···फिर भी कैसे आनन्द इतना अन्धा हो गया है···वह यह सब नहीं देखता ? थडानी की निगाहें नहीं देखता ? फिर भी···कैसा उसने जादू कर दिया है ?

सचमुच कल सुबह से तो वह बहुत अधिक उद्विग्न हो उठी। धोबी के कपड़े देने के लिए जब वह आनन्द की पैण्ट से बकसुए निकाल रही थी तो काग़ज़ का एक पर्चा भी जेब में मिला, बुरी तरह मुड़ा था जैसे मुट्ठी में कस-कसकर मोड़ा गया हो। खोलकर यों ही देखा, किसी होटल का बिल था—'ह्विस्की एक बोतल'। पेन्सिल से घसीट में लिखा था। वह इस तरह चौंक गई जैसे हाथ में सहसा अंगार आ गया हो। हूँ, तो यह होता है रात को दो-दो बजे तक !···यह थडानी कम्बख्त ! अब उसकी समझ में आ गया, आनन्द के गालों की उभरी हड्डियों पर काले-काले दाग़ क्यों हैं।

बड़ी देर आँखें फाड़े वह शून्य में ताकती रही और फिर एक बड़ी गहरी साँस लेकर रो पड़ी। शनिग्रह की तरह यह थडानी आनन्द के पीछे पड़ा है। दोनों भाड़ में जायँ ! वह लेकिन उसे क्यों घसीटता है ? ज़रा-सी साइकिल के पीछे कितनी कहा-सुनी हो गई थी उस दिन !··· थडानी ने कहीं कह दिया था, "चलो आनन्द, चार-छः दिन को कहीं साइकिल पर घूम आयें, लम्बे चलो। ज़रा शूटिंग-आउटिंग का मज़ा रहेगा। भाभी को भी ले लो।"

"वे तो बाइसिकल पर चढ़ना जानती ही नहीं ?" झिझककर

आनन्द ने आपत्ति की थी।

"भाभी साइकिल चलाना नहीं जानतीं ?" थडानी इस तरह विस्मय से बोला था जैसे कोई आश्चर्य की बात सुन रहा हो, "कैसे कॉलेज में पढ़ी हैं ?" फिर खुद ही बोला था—"तो सीख लेंगी। मेरे यहां एक पड़ी है बिलकुल नई। सिस्टर के लिए लाया था, तुम्हारे यहां भेज दूंगा।"

और जिस दिन उसका नौकर साइकिल, बिलकुल नई चमचमाती साइकिल दे गया था, उस दिन पति-पत्नी में ज़ोर का महाभारत हुआ। सामने आंखें गड़ाए वह एक-एक बात को दिमाग में घोंटती रही।

दोनों में दो दिन तक अनबोलाचाली रही थी। लेकिन इस बीच में भी रश्मि को लगा था जैसे मन-ही-मन आनन्द भी उस बात को नापसन्द करता है, पर शायद थडानी को अप्रसन्न नहीं करना चाहता। अचानक भक से इण्टरवल हो गया और सिनेमा की बत्तियां चमचमा उठीं। वह चौंक पड़ी और आंखें मींजने लगी।

"कैसा लगा भाभी ?" थडानी ने पूछा। उसने इधर की तरफ मुंह करके सामने वाली सीट की पीठ पर कुहनी टेक ली।

"हां, अभी तक तो ठीक है।" रश्मि को पता ही नहीं था कि तस्वीर में क्या चल रहा है।

"अच्छा हां, ज़रा आप लोगों को कुछ ठंडा-गरम···" अचानक उसे याद आ गया। वह झटके से उठ खड़ा हुआ और दोनों के रोकने पर भी बाहर चला गया।

पहां बैरे घूम रहे थे और नीचे बड़ा शोर हो रहा था। "मैं बिलकुल साफ़ कहे देती हूं, अंगूठी-वंगूठी मैं न लूंगी। फिर आप कहें कि आपके मित्र का अपमान हुआ।" चैस्टर के अस्तर की सिलाई में कोई डोरा टूट गया था, उसे खींचते हुए रश्मि ने कहा।

आनन्द ने सहसा कोई जवाब नहीं दिया, फिर बड़ी खुशामद के स्वर में बोला—"रश्मि, कभी-कभी तो तुम बिलकुल पागलों की-सी बातें करने लगती हो।"

"पागलपन की क्या बात है ? आपका दिमाग़ तो गया है चरने, सुन लीजिए सही बात ···" रश्मि उत्तेजना का घूंट भरकर पी गई— "उधार पर उधार करते जा रहे हैं, शर्म नहीं आती !"

"शर्म की बात तो तब हो जब मेरा देने का इरादा न हो। मैं उसकी एक-एक पाई चुका दूँगा।" रश्मि की इस बात से गुस्सा तो आनन्द को बहुत आया लेकिन आस-पास देखकर चुप हो गया। समझने के लिए बड़े नम्र स्वर में बोला—"तुम एक बात नहीं सोचतीं। उसे आखिर हमसे लालच क्या है ? बाप उसका लाखों का ठेकेदार है, ज़्यादा-से-ज़्यादा यही लालच होगा। फिर भी स्नेह तो देखा ही जाता है। नहीं तो नौकरी के चार महीने बाद ही यह फरनीचर, यह रेडियो, यह सब ठाठ-बाट आखिर कहाँ से आ जाता ? इतना सब करने पर भी यदि हम ठीक तरह से बोलें भी नहीं तो किसी का सिर तो फिरा नहीं है।" आनन्द ने हल्के से अपना हाथ रश्मि के पीछे सीट पर फैला दिया। पूछा—"कार तुम्हें कैसी लगी ? भई मेरा तो मन···।"

न चाहने पर भी रश्मि के गालों पर एक हल्की-सी चमक उभर आई, आँखों में स्निग्धता छा गई ··। तभी पीछे-पीछे बैरे से 'ट्रे' में कुछ सामान लिवाये हुए, अपनी सर्ज की पतलून की जेब में हाथ डाले और लम्बे डग भरता हुआ थडानी बीच की गैलरी से इधर मुड़ा···।

"तो क्या खाना यहीं होगा···?" आनन्द न तकल्लुफ में कहा।

"शट् अप···" थडानी ने नकली क्रोध से उसे झिड़का।

"अच्छा है, मेरी मेहनत बच गई···।" रश्मि परिहास से बोली। उसके दाँत चमक उठे।

लेकिन जैसे ही दुबारा अंधेरा हुआ, फिर वही घुटन और अंधेरा उसके दिमाग़ में मंडराने लगा। सामने विज्ञापन चल रहे थे—क्रीम की शीशी, शृंगार के पुराने प्रसाधनों से उसकी तुलना···

साइकिल···हर हिस्सा मजबूत है। अचानक रश्मि के दिमाग़ में संध्यावाला बैलगाड़ी का दृश्य आ गया···साथ चलता जोड़ा, आगे

बैल चलता है, उसके पीछे गाड़ी घसिटती है। अगला चलता है, पिछला घसिटता है। यह साइकिल है—यहाँ सामने आड़ करके पिछला अगले को ढकेलता है'''और जोर से फिर एक पहिया उसके दिमाग़ में घूमने लगा और बराबर घूमता रहा।

तीन पत्र और आलपीन



तीन पत्र और आलपीन

पता नहीं यह कौनसा नियम है कि एक बार जहां चोट लग जाती है, लाख बचाने पर भी चोट फिर-फिर वहीं लगती है !

आज ज़रा-सी असावधानी से फिर पिन वहीं चुभ गई जहां आज से कुछ समय पहले चुभ गई थी और चोट अभी तक ठीक नहीं हुई थी।

और असावधानी भी मैं इसे क्या कहूं ? कोई बात भी हो असावधानी की ! ज़रा-सी बात कि तीन पत्र एक आलपीन से नत्थी थे और वह आलपीन जैसे उन पत्रों से चिपके रहने से जंग खा गई थी। इन तीन पत्रों के अलावा उस आलपीन में कुछ और भी कागज़ के कोरे टुकड़े इस तरह चिपके थे कि, अनायास ही लगता था, अवश्य ही कुछ और पत्र भी उससे बिंधे होंगे। जो बाद में फट गए या फाड़ डाले गए और अब उनके ज़रा-से टुकड़े चिपके रह गए हैं। बहरहाल मैं इतना जानता हूं कि होश मुझे उस समय आया था जब इन पत्रों

और कागज़ के टुकड़ों से अलग करने के प्रयत्न में यह आलपीन टूट गई थी और उसका टूटा हिस्सा निर्दयतापूर्वक मेरी उँगली के पहले घाव में घुस गया था। तीनों पत्र धरती पर जा पड़े थे और दर्द से मैं कराह उठा था।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि उँगली में पहली चोट भी आलपीन से लगी थी। वह कैसे लगी एक बड़ा किस्सा है जो समय और धैर्य दोनों चाहता है। इस घटना और उस घटना में फ़र्क इतना है कि उस बार आलपीन चुभने से मैं बेहोश हो गया था, इस बार जैसे बुरी तरह चौंककर दर्द के सहारे किसी गहरे कुएँ में उतर गया हूँ। उस बार जो आलपीन चुभी तो उँगली पक गई, रात-भर जैसे कोई प्राणी खींचता रहा, ऐसी कसक मारती रही। सो नहीं सका। सुबह डॉक्टर को दिखाया तो बोला कि अभी ठीक से पका नहीं है, पकेगा तो ऑपरेशन होगा। और उसने ऐसी दवा बांधी कि वह और पके···अब आप कल्पना कीजिए मेरे दर्द की! जब उसने दूसरे-तीसरे दिन चीरा तब जाकर आराम हुआ। और अब यह जैसे-तैसे ठीक होने आया तो ठीक उसी जगह यह चोट लग गई···ये कम्बख़्त आलपीनें···

संक्षेप में तो पहली बार बात यह थी कि मैं अत्यन्त व्यस्त भाव से एक लेख के कुछ पन्नों को एक जगह इकट्ठा करके पिन लगा रहा था कि अचानक रेडियो की ख़बर की तरफ ध्यान ख़ुद ही चला गया। उफ़! कैसी मशीन की तरह एनाउन्सर ने यह बात कह दी थी—उसके स्वर में ज़रा भी कम्पन नहीं था, ज़रा भी गीलापन नहीं था, ज़रा भी··· कोई विशेष बात थी ही नहीं। उसी भावहीन स्वर में, जिसमें ज़रा देर पहले एक नये दियासलाई के कारख़ाने के खुलने की बात बताई थी, उसने कहा—"कल अपनी एक टुकड़ी के साथ घिर जाने पर बड़ी बहादुरी के साथ लड़ते हुए कैप्टन किशोर वर्मा वीर गति को प्राप्त हुए। आज उनका शव हवाई जहाज़ द्वारा श्रीनगर से दिल्ली लाया जा रहा है··"

"भैया..." मैं अचानक चीख उठा। सब घरवाले इकट्ठे हो गए। रोना-पीटना मच गया। जिस घर का पच्चीस वर्ष का जवान लड़का लड़ाई में यों मर गया हो, आप उसकी हालत सोचिए। घर से भी जब तार आ गया तो खबर पक्की हो गई। यह खबर पहले घर पहुँची थी, फिर घरवालों ने हमें तार दिया। मेरी आँखों में रेखा का आँसुओं से भीगा, बिखरे बालों वाला बेहाल चेहरा घूमता रहा, जो पिछले पाँच वर्ष से हठ किये बैठी थी कि शादी होगी तो किशोर भैया से, नहीं तो जीवन-भर कुमारी रहेगी। नर्स, टीचर कुछ भी बनकर वह रहेगी। अगले महीने भैया छुट्टी लेकर आने वाले थे और विवाह की प्रारम्भिक रस्में होने वाली थीं...अब...अब! कागज़ नत्थी करता हुआ हाथ विवश हो गया, हाथ की आलपीन बुरी तरह उँगली में घुस गई। उसे मैंने निर्दयता से निकाल दिया था और खून को दबाकर रोक दिया, क्योंकि ऐसी खबर के सामने इस ज़रा-सी आलपीन चुभने का क्या महत्त्व?

और उस बात को चार महीने होने आये। घर में इन दिनों कैसी मनहूसियत छाई रही कि बयान नहीं की जा सकती। हर समय ऐसा लगता जैसे अभी-अभी भैया की लाश को लोग जलाने ले गए हों। मनहूसियत कम होती गई और दिल के घाव की तरह उँगली का घाव भी पुरता गया। और आज या कल में यह घाव बिलकुल ठीक हो ही जाता, अगर यह पिन फिर ठीक उसी जगह न जा चुभती...

बात सिर्फ़ कल की है, लेकिन ऐसा लगता है जैसे उसी वातावरण में मैं वर्षों से रहा हूँ—रहूँगा; जैसे अब भी वहीं बैठा हूँ।

जिस स्थान पर मैं इस समय बैठा हूँ वह रेल के पुलिस स्टेशन का कमरा है। बाबूजी स्टेशन इंचार्ज हैं। गर्मियों की छुट्टियाँ हो गई हैं सो यहाँ आ गया हूँ। सुबह-शाम अब भी इच्छा होती है या जी ऊबता है तो मैं घूमने या रेल देखने के लिए यहाँ आ जाता हूँ। रेल आने के समय की प्लेटफॉर्म की हलचल, लोगों का उतरना-चढ़ना, तरह-तरह की आवाज़ें, इनमें आनन्द लेना मेरा शौक है। कभी पुल पर

खड़ा हो जाता हूँ तो नीचे से गुजरती रेलें देखकर मन एक स्वर्गीय पुलक से भर उठता है। प्लेटफॉर्म पर घूमते-घूमते जब मन उकताया तो बाबूजी के दफ़्तर में आ जाता हूँ, किसी सिपाही से कह दिया—"एक कोल्ड ड्रिंक या चाय लाने को बैरा से बोल दो।" मजे में पंखे के नीचे बैठकर एक-से-एक नई घटनाएँ सुनता हूँ—आज यह जेब काटते यों पकड़ा गया, ये स्त्री-पुरुष कहीं भागकर जा रहे थे, पाँच साल का फ़रार है। हाँ, दफ़्तर के बाहर प्लेटफार्म के नोटिस बोर्ड पर इनामी लोगों की फोटो और इतिहास देखना भी एक बड़ा रोचक विषय है। उफ़! दो घण्टे आप किसी भी थाने में बैठ जाइए, आपको ऐसा लगेगा जैसे संसार में पाप, हत्या, लूटमार, व्यभिचार के सिवा कुछ भी बचा ही नहीं है!

आज बाबूजी रात-भर यहीं रहे हैं। हालाँकि मुश्किल से दो क़दम पर क्वार्टर है, लेकिन खाना यहीं मँगाया था। सुबह भी आठ बजे ही वरदी पहने खड़े-खड़े खाना खाया था। स्टेशन पर एक विचित्र ढंग की निस्तब्धता और एक विशेष ढंग की हलचल एक साथ ही देखी जा सकती थीं—जैसे सभी लोगों के दिल धसक गए हों, या ब्लॉटिंग पेपर लगाकर किसी ने चेहरे की सारी रौनक सोख ली हो। बात यह हुई कि कल शाम को छः बजे यहाँ से दूसरे-तीसरे स्टेशन के बीच—सत्रह मील—फ़िफ्टीन डाउन एक्सप्रेस और एक मालगाड़ी लड़ गई। जब दोनों तरफ़ से लाइन-क्लियर दिये जा चुके तब बाद में पता लगा कि दोनों एक ही पटरी पर चल दी हैं। गुड्स ट्रेन में मिलटरी की लारियाँ, ट्रक, पेट्रोल की टंकियाँ थीं। सुनते हैं ऐक्सप्रेस के अगले तीन डिब्बे तो जैसे एक-दूसरे में घुस गए। डिब्बे चूर-चूर हो गए, इंजन नीचे जा गिरा। सुनते हैं इंजन के बाद दूसरा या तीसरा डिब्बा आर० एम० एस० का था, वरना पता नहीं कितने का नुक़सान और होता। ट्रॉलियाँ, क्रेन, एम्बुलैंस, दर्शक और अधिकारी सभी पहुँच चुके थे। गार्ड हिरासत में था और ट्रेनगार्ड अस्पताल में बेहोश पड़ा था। अपने दोनों असिस्टेण्टों

और दूसरे सिपाहियों के साथ बाबूजी वहीं जमे थे। जितनी लाशें मिली थीं उनमें अभी दो की शिनाख्त नहीं हो पाई थी।

मैं स्वयं बड़ा उद्विग्न और उत्सुक था। सुबह ही बाबूजी के साथ स्टेशन पर आ गया था। आज स्टेशन के सारे अधिकारी वहीं गये हुए थे।

प्लेटफॉर्म पर घूम-फिरकर बाबूजी के दफ़्तर में आ गया। उनकी खाली कुरसी पर बैठकर पैर मेज़ के काँच पर फैला दिये। बगल के बन्द दरवाज़े की ओर मुँह करके पुकारा—"मुंशीजी !"

थाना एक तरह से खाली पड़ा था। उधर से आते समय देख-आया था, जेल के मोटे सींखचों के पीछे एक गिरहकट बड़े आराम से बैठा बीड़ी पी रहा था। दरवाज़े पर सन्तरी खड़ा था। उसने साफा उतारकर किवाड़ की चटखनी पर टाँग दिया था और बन्दूक एक तरफ़ टिकाकर बड़े आध्यात्मिक 'मूड' में हथेली पर अँगूठे से चूना-तम्बाकू मल रहा था। उसने एक हाथ से अपनी बाहर निकल आती चुटिया को ज़बरदस्ती अपनी चिकनी खोपड़ी पर साफे को घुमाकर भीतर करने की कोशिश करते हुए आकर पूछा—"भैयाजी, मुंशीजी तो ए० एस० एम० के दफ़्तर गये हैं, कुछ पूछकर टाइप कराने। शायद कोई आदमी वहाँ से लौटा हो। कुछ काम है क्या ?"

"और कोई नहीं है ?" मैंने पूछा।

"रामगुलाम है, वह ज़रा सुरती लेने गया है पान वाले तक, अभी आता होगा।"

"अच्छा, किसी कुली से कह दो, बैरा से एक बोतल कोका कोला को बोल दे।"

किवाड़ बन्द करके वह चला गया, तो सिर को कुरसी के पीछे वाले हिस्से से टिकाकर मैं ऊपर पंखे की घूमती हुई पंखड़ियों को देखने लगा। दो-चार मिनट बाद यों ही बाएं हाथ से बाईं ओर वाली दराज खोल डाली। उसमें कागज़ भरे थे। बिना देखे ही हाथ से टटोलकर

एक लिफ़ाफ़े जैसा काग़ज़ उठा लिया। सामने की ओर लाकर अधखुली आँखों से देखा, पीला बादामी-सा काग़ज़ का लिफ़ाफ़ा था, उस पर बाबूजी के हाथ की लिखावट में लिखा था—"उसकी जेब में पाये गए।" ख़तों से चौंककर सीधा हुआ—किसकी ? झुककर दो-एक लिफ़ाफ़े और देखे, जिन दो लाशों की शिनाख़्त नहीं हो पाई है इन्हीं में से किसी की जेब में ये ख़त पाये गए थे।

फ़ौरन लिफ़ाफ़े में से काग़ज़ निकाले। पत्र चार मोड़ में थे। गन्दे किनारों और तह के निशानों से पता चलता था कि काफ़ी दिनों उसकी जेब में रखे रहे थे, और ये तीनों ही उस जंग-लगी आलपीन से नत्थी थे। इसके साथ ही काग़ज़ के कुछ फटे कोने भी थे—उन पत्रों के अवशेष, जो इसी पिन से बिंधे होंगे। यह असम्भव था कि ऐसी हालत में पाये गए उन पत्रों को मैं न पढ़ता।

सामने ही पत्र पर निगाह पड़ी—

डियर दोस्त,

जब से सुना है कुछ अजब पसोपेश में हूँ। विश्वास नहीं होता। न कोई चिट्ठी, न समाचार, तुम्हें आख़िर हो क्या गया कि यों भाग खड़े हुए ? न किसी से कुछ कहना न सुनना। ज़रा-सा हिंट तो दिया होता मेरे यार ! छुट्टियों में जब अचानक घर गया तो तुमसे मिलने भी पहुँचा। बाबूजी ने जब बताया तो सच जानो मेरे ऊपर तो जैसे आसमान टूटा। चार-पाँच महीने से तुम्हारा कोई पता नहीं है, बाबूजी से पता चला।

तुमसे तो, सच मानो, इस तरह की ज़रा भी उम्मीद नहीं थी कि यों घर छोड़कर भाग खड़े होगे। मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे जैसा आदमी कैसे ज़िन्दगी के संघर्षों से घबराकर भाग गया ? कॉलेज का सबसे गम्भीर-प्रतिभाशाली विद्यार्थी ! दूसरे लड़के जिसका दिन-रात ज़िक्र करते थे; प्रोफ़ेसर क्लास में हमेशा डरता था कि कहीं कुछ ग़लत न कर जाय, आँख हमेशा सतर्क रहती थी। प्रशंसा और मुग्ध भाव से लड़कियाँ

जिसे हमेशा छिपी नजरों से देखा करती थीं—जो हमेशा क्लास में फर्स्ट आया, उसे आखिर हो क्या गया ?

घर छोड़ने से पहले तुम्हारी मानसिक स्थिति का अन्दाज मैं तुम्हारे बाबूजी के वर्णन से लगाता हूँ। यह समझकर कि तुम मेरे पास अवश्य आये होगे या कम-से-कम मैं तुम्हारा पता जरूर जानता होऊँगा, तुम्हारे बाबूजी ने साथ वाला पत्र मेरे पास भेजा था कि मैं उचित पते पर भेज दूं। बाबूजी ने एक पत्र मुझे भी लिखा कि मैं तुम्हें समझा-बुझाकर लौटा दूं। इस तरह के झगड़े तो घरों में होते ही रहते हैं। और भाई, दिल से कौन चाहता है कि यों चख-चख हो। जब आदमी विवश हो जाता है तभी तो यह स्थिति उत्पन्न होती है। उनकी शिकायत यह भी है कि तुममें यह परिवर्तन या ग़ैर-जिम्मेदारी की भावना शादी के बाद से आई है, इससे पहले तो तुम एक आदर्श पुत्र थे। वह लड़की देखने में तो सीधी-सादी लगती है लेकिन भीतर से ऐसी काट करने वाली होगी, इसकी कौन कल्पना कर सकता था! स्वभाव तो किसी के चेहरे पर लिखा नहीं रहता, सब जानते ही जान पाते हैं। उनके दिल में तुम्हारी तरफ से कोई दुर्भावना नहीं है। इस कहने-सुनने को भूलकर तुम्हें चाहिए कि लौट आओ।

हो सकता है बहुत सी बातें तुम्हारे बाबूजी ने अपने दृष्टिकोण से देखी हों। लेकिन इसमें जो सत्य है उससे कैसे इन्कार करूँ ? तुम यों, कायर की तरह संसार के संघर्षों से मुँह छिपाकर भाग जाओगे, इसकी तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी। मैं जानता हूँ आज जैसी निराशा और बेकारी कभी नहीं आई। शायद इतनी संख्या में पढ़े-लिखे बेकार कहीं भी नहीं हैं। अपनी एक घटना याद आती है। मलाबार में मुझे रास्ता पूछना था एक सड़क का। एक जगह से सड़क दो तरफ को जाती थी, वहाँ कोई बोर्ड नहीं था। मैं राह देखने लगा कि कोई आये और मैं उससे पूछूँ। अचानक दो पढ़े-लिखे शिक्षित-से व्यक्ति आते दिखाई दिए। मैंने पूछा—"अलप्पी का रास्ता किधर से जाता है ?" वे दोनों

बुरी तरह हाथ झटककर चले गए। अर्थ था—हमें नहीं मालूम, हमसे मत बोलो! मुझे उनके व्यवहार पर बड़ा आश्चर्य हुआ। पढ़े-लिखे शिष्ट आदमी! लगभग आधे फर्लांग जाकर न जाने क्या सोचकर वे लौटे, पूछा—"किधर का रास्ता आपने पूछा?" मैंने बताया तो बोले—"आप नये आदमी मालूम होते हैं।" मैंने सोचा, अजब आदमी मालूम होते हैं। उनके इस व्यवहार का कारण पूछा, तो बोले—"यहाँ की स्थिति से विवश होकर हमें यह व्यवहार करना पड़ता है। लोग इस तरह बातचीत करने का बहाना ढूँढ़ते हैं, फिर झट अपनी बेकसी का रोना लेकर सहायता की भीख माँगने लगते हैं!" यह स्थिति उस जगह की है, जहाँ भारतवर्ष में सबसे अधिक अर्थात् पचहत्तर प्रतिशत शिक्षा है।

और नेता लोग रोना रोते हैं कि हम यह कर रहे हैं, हम वह कर रहे हैं। उनसे कुछ नहीं होता तो न सही, लेकिन ये उल्टी-सीधी बातें बककर हमें चिढ़ायें तो नहीं! और एक तुम हो, जब कि इस समय संगठित प्रयत्न की ज़रूरत थी, यों घर से भागकर चले गए हो!

तरह-तरह के अनुमान मैंने तुम्हारे विषय में लगाए हैं। उन्हीं में से एक अनुमान के आधार पर यह पत्र तुम्हें भेज रहा हूँ। वैसे मैं जानता हूँ कि धर्म का ढोंग तुम्हें पसन्द नहीं रहा। इसलिए यह प्रश्न ही नहीं उठता कि तुम साधु-संन्यासी बनकर निकल गए होंगे। डाकू बनकर तुम निकल नहीं सकते, हालाँकि आज के ज़माने में लीडर बनने का इससे अच्छा कोई दूसरा तरीका है ही नहीं। (कल के डाकू आज के रहनुमा हैं!) न इन लीडरों को सबक देने का इससे अच्छा कोई तरीका है! फिर तुम किस उद्देश्य को सामने रखकर निकल गए हो, समझ में नहीं आता। हो सकता है निरुद्देश्य ही निकल गए हो, लेकिन यह निरुद्देश्यता आखिर तुम्हें ले कहाँ गई है? कुछ तो पता चले!

घरवालों की बात घरवालों पर छोड़ो, लेकिन मुझे तो लिखो कि मैं तुम्हारी क्या मदद कर सकता हूँ? अगर उचित समझो तो मिलो।

शायद कोई हल हम लोग बैठकर सोच सकें !

तुम्हारा,
नवीन

पत्र खत्म करके ऊपर सिर किया तो लड़का कोकाकोला की झाग-दार बोतल लिये खड़ा था। इशारे से कहा—रख दे और चला जाय। वह चुपचाप चला गया, मैंने दूसरा पत्र पढ़ा—

प्रिय बेटा,

पड़ोस के रग्घू ने सलाह दी है कि तुम्हारे दोस्त के पते से मैं लिखूं, इस पर भी लिखकर देख रहा हूँ। जहाँ-जहाँ उम्मीदें थीं, पच्चीस-तीस खत तुम्हें डाल चुका हूँ। हफ़्तों अखबारों में निकलवाया। अब निराश होकर बैठ जाने के सिवा और कोई चारा नहीं है। फिर भी बाप का दिल है, नहीं मानता। सोचा एक खत और सही। अगर मिल जाय तो यह तो लिख दो कि जहाँ हो कुशल से हो। हम लोगों को सन्तोष हो जाय। वैसे, जब जोश था तो जिसने जो कहा, किया। फोटो निकलवाये, खत डाले; जहाँ पता लगा, भागा गया। देवी-देवता मनाये और ज्योतिषी-पंडित पूछे। अब तो सब रास्ते खत्म हो गए हैं, हारकर भाग्य के भरोसे बैठ गया हूँ।

अब मैं सोचता हूँ कि पत्रों और फोटो से ही तुम्हें लौटना होता, तो तुम यों बिना कहे-सुने चल क्यों देते ? ठीक है बेटा, सब अपना-अपना वक्त है। पढ़ा-लिखाकर, खिला-पिलाकर बड़ा कर दिया; किसी लायक बना दिया। तुम्हीं अब हमें आँख नहीं दिखाओगे तो कौन दिखायेगा ? सन्तोष करने को चार लड़के और हैं, तीन लड़कियाँ हैं। तुम्हारे ही न रहने से कुछ बनता-बिगड़ता थोड़े ही है, लेकिन उस कम्बख़्त औरत को कौन समझाए ! ओछी जात ! सिर देहली पर दे मारा है। खूब मोटे-मोटे गुमटे उठ आए हैं। छाती में घूंसे मार-मारकर नील डाल ली हैं, तभी से आधी पागल हो गई है। पड़ी है खाट पर। रो-रोकर आंखें सुजा ली हैं, खराब कर ली हैं। मैं तो परेशान हो गया हूँ इस

ज़िन्दगी से। किसी दिन तोले-भर अफ़ीम खाकर सो रहूँगा, सब चक्कर मिट जायगा। सारा घर अपने-अपने रास्ते जाना चाहता है, समेटते-समेटते ज़िन्दगी बीत गई! अपना खून-पसीना देकर उसे बनाया, अपनी सारी जवानी झोंक दी—किसी की समझ में ही नहीं आता कुछ। बेज़ार हो गया हूँ अपनी इस ज़िन्दगी से। ऐसा ही रहा तो किसी दिन रेल से कट मरूँगा, या छाती से पत्थर बांधकर जमुना में डूब मरूँगा। भाड़ में जाय सब। ज़रा सोचकर रह जाता हूँ, छोटे-छोटे लड़के हैं; सयानी-सयानी लड़कियाँ हैं। क्या होगा इन सबका मेरे बाद में! गृहस्थी कुछ ठीक-ठौर पर चलने लगे तो मैं सन्यास लेकर निकल जाऊँगा कहीं।

तुमसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थी बेटा! बुढ़ापे में सहारा दोगे; बिखरती गृहस्थी को सँभालोगे; छोटे भाई-बहनों को ठिकाने पर लगाओगे और ज़िन्दगी-भर कोल्हू के बैल की तरह जुटे हुए हम बूढ़े-बुढ़ियों को कुछ शान्ति की साँस मिलेगी। लेकिन खैर, तुम्हें जो ठीक लगा सो तुमने किया। मैं क्या कहूँ, लेकिन घर के झंझटों से ऊबकर मैं भी कहीं चला जाता, तो तुम इतने बड़े नहीं हो जाते। मुझे तुम्हीं बताओ! और बेटा-बेटी होते काहे के लिए है? आज हमारी ज़रा-सी बात सुनने में तुम्हारी इज्ज़त उतरती है, तुम्हारी बहू का अपमान होता है—तब तुम्हें मान-अपमान और इज्ज़त उतरती नहीं लगी, जब रात-रात-भर माँ गोद में लिये बैठी रहती थी, ज़रा-सा बुखार हो जाता तो हफ़्तों नहीं सोती थी! उस वक्त तुम्हारी बहू नहीं आई, जब हम डॉक्टरों के हाथ जोड़ते थे, वैद्यों की खुशामद करते थे। आज ज़रा-सी बात से घर में महाभारत मच जाता है।

और मुझे बताओ, गृहस्थी का यह कलह किस घर में नहीं है? भाई, जहाँ चार बरतन होते हैं, खटकते ही है। इनके लिए कोई यों घर छोड़कर चल देता है? फिर मेरी समझ में नहीं आता, तुमसे किसी ने कहा क्या है? एम० ए० तक जैसे हिम्मत थी, पढ़ाया। अब अगर यह कहते हैं कि नौकरी मिली तो क्या बुरा करते हैं? और तुमसे कब सहारे

की आशा करें ? आखिर तुम्हें नौकरी के लिए और किस क्लास तक पढ़ाया जाय ? 'नौकरी नहीं मिली, नौकरी नहीं मिली' सुनते-सुनते तो परेशान हो गए। आदमी कोशिश करे तो कैसे नौकरी नहीं मिले ! लेकिन जब मुफ़्त का, बिना हाथ-पैर हिलाए खाना मिले, तो ज़रूरत क्या किसी को ? बाप है, जिन्दगी-भर खिलाया और खिलायेगा। चोरी करे, भीख माँगे, लेकिन तुम्हें तो खिलायेगा ही, कहीं से लाकर खिलाये। कभी इन बूढ़ी हड्डियों पर भी दया की होती बेटा ! जिन्दगी-भर क्लर्की करके यह कमा लिया, यही क्या थोड़ा है ? अब किस-किसको करूँ ? तुम सबसे बड़े हो, तुम्हें पढ़ा दिया। समझा, तुम अपने से छोटों को पढ़ा लोगे, सँभाल लोगे। सब मिलकर अपनी बहनों को देख-दाख लेंगे। लेकिन भगवान् की मरज़ी।

तुम पाँच भाई हो, लाख लड़ोगे-झगड़ोगे, पर हो तो एक ही ख़ून से। ख़ून का जोश रुकेगा कहाँ ? लेकिन भैया, वह नई जो आई है, उसे तुम्हारे ख़ून और मुहब्बत से क्या मतलब ? उसे तो अपनी पड़ी है। शादी इसलिए की कि घर में एक बहू आ जायगी, बुढ़िया को आराम हो जायगा। गृहस्थी को देखने-भालने वाला एक हो जायगा। सब स्कूल कालेज जाने वाले बच्चे हैं; बुढ़ापे की उम्र में भी तुम्हारी माँ चार बजे से ही काम में लगी रहे, यह देखा नहीं जाता था। हमें यह थोड़े ही मालूम था कि घर में बहू लाना गुड़हल का फूल और सेह का काँटा लाना हो जायगा। दिन-रात की चख-चख ! बुढ़ापे में दिमाग़ ठीक नहीं रहता, मैं भी तेज़ हो जाता था। तुम बुरा मानकर उसका पक्ष लेकर लड़ने तो लगते थे, लेकिन सच मानो, न जाने कैसा तुम्हारी बहू का स्वभाव है, घर में किसी से भी तो नहीं बनती। किसी से भी बनती होती तो, चलो हटाओ, सोच लेते कि हमीं लोगों का स्वभाव ख़राब है। वह तभी से अपने घर है। एक ख़त भी नहीं डाला।

अब मैं सब क्या रोना रोऊँ ? और रोने से फ़ायदा भी क्या है ? केवल मेरे रोने से तुम पिघल ही जाते, तो यहाँ चुपचाप घर वालों से,

पड़ोसियों से आकर पूछ जाओ, कितना रोया हूँ ? भाग्य में ही रोना बदा है तो दूसरा कोई क्या करेगा ? अब तो अचानक कभी-कभी रोते-रोते लगता है कि शायद तुम आकर आँसू पोंछोगे, शायद तुम आकर मुझसे लिपट जाओगे।

बेटा, मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मैं सिर्फ़ एक तुम्हें चाहता हूँ। तुमसे मैंने अपनी गृहस्थी शुरू की थी, और सब तो बाद की भरती है, मुझे उससे कोई प्रेम नहीं है। दिन-रात मन को समझाता हूँ कि तुम, ईश्वर न चाहे, मर ही जाते तो भी तो मैं सन्तोष करता ही। पर एक कील की तरह तुम्हारा चेहरा रात-दिन दिल में चुभता रहता है।

तुम नहीं आना चाहते, न सही; पर एक बैरंग पोस्टकार्ड में यह तो लिख दो—तुम सुखी हो, खुश हो ! बहनें रोती हैं, भाई बिलखते हैं, माँ मरी जा रही है और बाप पागल हो गया है, सबको धीरज तो बँध जायगा कि तुम आनन्द से हो। कुछ नहीं तो यह तो लिख दो कि चिट्ठी तुम्हें मिल गई है। और क्या कहूँ ?

तुम्हारा अभागा—बाप

पत्र पढ़कर दिल पिघल उठा, सूनी आँखों से उसे देखता रहा...

"भैयाजी, मुझे बुलाया था ?" टाइप किया हुआ कागज़ लिये मुन्शीजी ने अचानक दरवाज़ा खोलकर पूछा।

मैं चौंका। ज़रा गला साफ़ करके कहा—"नहीं, हो गया काम अब तो।" और मैं अपने-आप में खो गया—बात करने की स्पष्ट अनिच्छा दिखाता हुआ। मुन्शीजी थोड़ी देर खड़े रहे, फिर मेरी मेज़ पर वह टाइप किया हुआ कागज़ पेपरवेट से दबाकर चले गए। शायद बाबूजी के लिए रखकर चले गए थे।

मैंने गहरी साँस लेकर अगला पन्ना पलटा—

मेरे दिल के चाँद,

यह आशा की डोर, उम्मीद का तार मकड़े के जाले की तरह न समाप्त होने वाला है, लेकिन कितना कमज़ोर !

सोचा था, तुम्हें कोई पत्र नहीं लिखूंगी। जब अपनी इच्छा से ही तुम गृहस्थी के माया और मोह के जंजाल को काटकर चले गए हो, तो क्यों तुम्हारी साधना को तोड़कर पाप की भागिनी बनूं ? दमयन्ती के नल चले गए, उर्मिला के लक्ष्मण चले गए, पिंगला के भरथरी चले गए, यशोधरा के सिद्धार्थ चले गए—तब भी तो उन्होंने अपने दिल पर पत्थर बांधा होगा, किसी तरह रहकर एक-एक दिन काटा होगा। और उन लोगों ने काटा होगा या नहीं, पर मैंने तो काटने का निश्चय कर ही लिया है शक्ति-भर। कभी-कभी अकेलेपन के बोझ से मन कसक उठता है; लगता है, कहीं इस दुर्गम पथ पर मैं कांप और डगमगा तो नहीं जाऊँगी ? लेकिन अब मुझे डर नहीं है, 'हारिल' की लकड़ी, निराशा की आशा और अँधेरे का आलोक मेरे भी पास है। मेरे पास मेरा 'राहुल' है—कम-से-कम यह जिन्दगी काट देने का आधार तो है ही।

लेकिन कभी-कभी खुद ही शंका होती है और मन बड़ा छोटा-छोटा होने लगता है। मैं अभागिन बौनी दमयन्ती, उर्मिला, पिंगला और यशोधरा को छूना चाहती हूं—वास्तव में वे कैसे रहीं, कौन जाने; लेकिन हज़ारों भाट-कवियों ने उनके गुण-यश गा-गाकर उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया। मुझ कम्बख्त के लिए किससे एक लाइन भी लिखी जायगी ! मध्यवर्ग की रूढ़ियों में जकड़ी-बँधी एक निरीह नारी ! नाम को जिसे इण्टर क्लास तक की पढ़ाई में निरन्तर समझना और बोलना ही रोज़ सिखाया जाता रहा, लेकिन बोलने का ही जिसे ज़रा भी अधिकार नहीं था। और जब भी उसने मुंह खोला, उसे छिनाल, कुलटा, लड़ाका—क्या-क्या नाम नहीं दिये गए ? ज़िन्दगी में उसने चाहे अंगार पचाए हों या ज़हर, कवियों को उन सबके लिखने की ज़रूरत और फ़ुरसत क्यों हो ? चांद, तारे, फूल, पत्ते—ईश्वर ने उन्हें काफ़ी बना दिये हैं, और कुछ नहीं तो नेता लोग तो हैं ही। कोई मेरे दुख का ढोल नहीं पीटेगा। सिर्फ़ इससे मेरे पास दुख ही है, कैसे मान लूं ? तुमने एक बार जो

लाइनें ताजमहल पर लिखकर पत्र में भेजी थीं, वे मेरे दिल में चुभकर रह गई हैं।

अनगिनत लोगों ने दुनिया में मुहब्बत की है।
कौन कहता है कि सादिक़ न थे जज़्बे उनके।
इक शहंशाह ने दौलत का सहारा लेकर।
हम ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक।

जज़्बे सादिक़ हों या न हों, भावनाएं सच हों या न हों, लेकिन उनकी नुमाइश तो नहीं की जाती। फिर भी कभी-कभी मन बड़ा व्याकुल हो उठता है। पता नहीं तुम कहाँ हो, किस हालत में हो?

मेरे भाग्य, मेरे लिए नहीं, तो अपने इस पुत्र के लिए तो एक बार आ ही जाते। मैं नहीं जानती किन शब्दों में अपने-आपको तुम्हारे सामने निरावरण कर दूं। इस वक़्त तुम्हीं अनुमान लगा लो, मेरी क्या हालत है? रात का एक बज रहा है। किसी नीलाम से लाई गई सादा-सी शृङ्गार मेज पर लालटेन रखे मैं पत्र लिख रही हूं। पीछे बेबी सो रहा है, पास ही ललिता और अन्ना की चारपाइयाँ पड़ी हैं। वे दोनों शायद दो-दो नींदें ले चुकी हैं। बेबी के पास दस बजे से बारह बजे तक सोने की कोशिश की, नींद ही नहीं आती। ऊपर वाले कमरे से भैया और भाभी की खिलखिलाहटें अभी आ रही थीं, अब तो हल्की-हल्की भनभनाहटें आ रही हैं। शायद वे लोग बातें कर रहे हैं। आज ठण्ड है और बाहर बादल छाये हुए हैं। हल्की-हल्की बूंदें ऐसे पड़ रही हैं जैसे बादल रिस रहा हो। जाने मन कैसा-कैसा हो रहा है, बड़ा उचटा-उचटा-सा, उखड़ा-उखड़ा-सा। हर समय मन में ऐसा लगता है जैसे न जाने क्या-कुछ खुला हुआ बाहर भीगा जा रहा हो, कुछ अमूल्य गला जा रहा हो। बार-बार उठ-उठकर बाहर झांक आने को मन करता है...जैसे कोई आने वाला हो। कौन आ रहा है मेरा? शायद ऐसा भाग्य लेकर ही पैदा नहीं हुई। तुम्हीं सोच लो। ऐसे समय कैसा बिखर-बिखर जाने को मन करता है! काश, मेरा एक-एक रेशा बिखरकर जीवन भरने

के इस महापाप का प्रायश्चित कर पाता !

आज तो सच, बड़ी कातरता मन में उमड़ी पड़ती है। ऐसा तो, पता नहीं पिछले कितने महीनों से, अनुभव कर रही हूँ, जैसे कोई जवान विधवा पति की लाश पर सिर रखकर रात-दिन मन में लगातार बिलखती रहती हो, पर आज तो ऐसा लगता है जैसे वह फूट-फूटकर रो उठी है। ऐसा मन तो उस समय भी नहीं हुआ था, जब तुम्हारे घरवालों ने पांच बजे की ठंड में मुझ पाँच महीने की गर्भवती को गाड़ी पर लाकर बिठा दिया था और यहाँ तक का एक टिकट मेरी गोद में पटककर चले गए थे। मेरे पास ताँगे तक को पैसे नहीं थे। यों बात-बात में रोने की मेरी आदत कभी नहीं रही। रात को दस बजे से सुबह पांच बजे तक चुपचाप सिर झुकाए दरवाज़े पर बैठी रही थी, तब तुम्हारे छोटे भाई ने (हां, वे तुम्हारे भाई हों, मेरे कुछ भी नहीं हैं) ताँगा लाकर खड़ा कर दिया, कहा—"चलो।" मैं चली आई और आज तक उधर मुँह करके नहीं सोई। मैं खूब जानती हूँ इस पत्र का कोई अर्थ नहीं है। कौन जाने यह तुम्हें मिल ही जायगा ! शायद न भी मिले। बात तुम्हें सुनती होती तो क्या मुझे पता देकर न जाते ? कभी-कभी आवेश आता है, तुम्हें खोजने निकल पड़ूँ, पर कहाँ ? यह कहाँ का प्रश्न उस समय भी आया था जब तुम्हारे पिताजी ने ललकारकर कह दिया था—"बेटा था तब तक तू हमारी बहू थी, उसी के कारण तो तेरा-हमारा सम्बन्ध था। अब पता नहीं वह कम्बख्त-नालायक जीता है या मर गया। इतना ढूंढ़ा, पता ही नहीं चल रहा है। हमारे पास क्या वैसे ही बोझ कुछ कम है, जो तुम्हारा बोझ हम और सहें ? पढ़ी-लिखी लड़की हो, कुछ भी कर सकती हो, जो समझ में आये सो करो। तुम्हारी उम्र अभी ऐसी ही है और हमारे लड़के अभी नासमझ हैं। मकान छोटा है। मुहल्ले-समाज में हमारी बदनामी होती है।" कहने को तुम्हारे बाप ने काफ़ी कह दिया। और क्या सुनना चाहती थी ? क्या तब भी वहां जमी रहती ?

तुम चले गए, उनकी निगाह में यह मेरा ही कसूर है। उनका

जवान बेटा चला गया, मेरा क्या गया ?

मेरे नाथ, कम-से-कम मुझे यह तो बता देते, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? मैं तुम्हारे चरणों की कसम खाकर कहती हूँ, मैं उस अपराध का प्रायश्चित करते हुए सारी ज़िन्दगी बिता दूँगी, मुझे बता तो दो ! तुम्हें नौकरी नहीं मिली, तुम बेकार रहे, उन्होंने तुम्हें पढ़ाया, उन्होंने तुमसे आशाएँ कीं—क्या उस सबके लिए कसूरवार मैं ही थी ? मेरे दिल में कम आशाएँ थीं ? मेरे मन में सपने नहीं थे ? क्या शादी से पहले किसी भी आकांक्षा ने मुझे नहीं लुभाया ? आखिर जिस वर्ग में पली थी, उसके कुछ संस्कार तो दिल में थे ही। तुम्हारे यहाँ आकर ज़िन्दगी खत्म हो गई तो क्या हुआ ? इससे पहले कॉलेज था, सखी-सहेलियाँ थीं। कहानी-किस्से, सिनेमा-उपन्यास थे—क्या नहीं था जो आज की लड़की को लुभा सकता है ? लेकिन मैंने तुमसे एक शब्द भी शिकायत का कहा ? इसलिए कि मैं जानती थी। मैं गाने के लिए पूरे कालेज में मशहूर थी, लेकिन तुम्हारे यहाँ आने पर किसी ने एक गुन-गुनाहट भी सुनी ? अपने अरमानों का यों खून पीकर भी मुझे अधिकार नहीं था कि चुप भी रह सकती ! तब भी घमंडी, असामाजिक और भी न जाने क्या-क्या कहा गया।

तुम घोर एकान्त-पसन्द हो गए, रूखे हो गए, चिड़चिड़े हो गए, और तुम झल्लाये-से रहने लगे। लेकिन मैंने तो यही कोशिश की कि तुम्हें खुश रखूँ, तुम्हारे ऊपर, घरवालों के ऊपर अपना कम-से-कम बोझ डालूँ। क्योंकि मैं समझती थी, तुम खुद अपने-आपसे ही परेशान थे; ऐसे में प्रेम क्या ख़ाक पनपेता ? मैं ख़ूब समझ सकती हूँ, ख़ूब अनुभव करती हूँ कि तुम ज़िन्दगी से कितने आजिज़ आ गए होगे, जब तुमने घर छोड़ा होगा···और यहाँ मैं···मैं···खुद भी कभी-कभी क्या सोचने लगती हूँ, इसे सुनकर क्या करोगे···

यों यहाँ रहती हूँ और शायद रहना ही पड़े, लेकिन दिन-रात यहाँ तबियत इस तरह घुटती रहती है, जैसे गले में फन्दा डालकर कोई दोनों

ओर से खींच रहा हो, या वन्द कमरे में धुआं भर गया हो, वाहर खुली हवा में भाग जाने को मन करता रहता है।···छोटे से वड़े तक सबकी नजरों में एक नफ़रत, एक उपेक्षा, एक हिकारत···मेरे ख़ून की एक-एक बूंद में ज़हर घोल देती हैं। हां, कभी यहां की वेटी थी, तव शायद सव अधिकार थे, अव तो जैसे वोझ हूं अनावश्यक। इसी डर के मारे वेवी को रोता छोड़कर दिन-रात काम करती हूं। मां की इच्छा होती है तव तक रखती हैं। वाकी समय पड़ा चीखा करता है। सारा चेहरा लाल पड़ जाता है और नीली-नीली नसें तनकर उभर आती हैं। कभी-कभी तो गुस्सा आता है, गरदन घोंटकर गली में फेंक दूं। अभागा! आते ही जिसने अपने वाप को छुड़ा दिया। लेकिन फिर खुद ही रुलाई फूट पड़ती है। इस वेचारे ने क्या किया है? जोर से छाती से चिपकाकर चुप कर लेती हूं—यही तो हारिल की लकड़ी, अंधेरे का आलोक और निराशा का दीपक है। तुम्हें तुम्हारे मां-वाप ने ऐसी शिक्षा दी कि तुम संघर्षों में स्थिर नहीं रह सके, कठिनाइयों से लड़ नहीं सके। मैं इसे वह सव सिखाऊंगी जो तुम नहीं पा सके। लेकिन शायद ऐसा मौका नहीं आयेगा···दूध, दवा और देख-रेख की कमी में पता नहीं वह इतने दिन चले···।

दिन-रात तुम्हारे विषय में उलटी-सीधी आशंकाएं करते हुए भी बुरा नहीं सोचना चाहती। मेरी चिन्ता नहीं करना चाहते, तो न सही। तुम हो, वस इसी आशा पर जीवन काटने का निश्चय कर लिया है। तुम विश्वास मानो, तुम्हारी तरह भागकर, जान छुड़ाकर चाहूं तो भी नहीं जा सकती। थोड़े दिन और ठहरकर यहीं कुछ-न-कुछ करूंगी—टीचर या टाइपिस्ट, कुछ भी। पिंजरे में वहुत दिन वन्द रहने से पंखों का अभ्यास छूट गया है, झिझक लगती है, आत्म-विश्वास नहीं है, फिर भी···

खैर इन वातों से फ़ायदा भी क्या? तुमने जैसा ठीक समझा, किया। मैं इसमें क्या कहूं? तुम मुझसे ज्यादा पढ़े-लिखे हो, ज्यादा

समझदार हो, विद्वान हो। अमरकान्त नाम के एक लेखक की कहानी पढ़ी थी, 'सोलह बरस'। उसमें जब एक युवक का परीक्षा में फेल हो जाने पर घर वालों द्वारा बहुत अपमान किया गया तो वह सबसे सम्बन्ध तोड़कर हॉस्टल में चला गया और वहाँ उसने भयंकर रूप से पढ़ाई शुरू की। माँ-बाप के पत्र गए, हज़ारों पत्र पत्नी के गए। वह पढ़ता और हँसकर फाड़ देता, पढ़ाई में लग जाता। रात-दिन पढ़ता। घर वालों की तरफ़ से जैसे पत्थर का बन गया, जैसे वह पढ़ने की मशीन हो गया। आखिर पत्नी की एक लाइन ने उसे हिला दिया। ऐसी ही एक रात्रि को उसे पत्र मिला, लिखा था—"अपने जन्मदिन के हिसाब से परसों मैं पूरे सोलह बरस की हो जाऊँगी, शायद यह दिन फिर कभी नहीं आएगा।" उसी रात वह बिस्तर बाँधकर घर पहुँच गया। तुम्हें हिला डालने की ऐसी कोई लाइन मेरे दिमाग में नहीं आ रही है। मेरा सोलहवाँ बरस शायद अब सदा के लिए गुजर गया और यह उन्नीसवाँ बरस लग रहा है, और ऐसा लगता है जैसे यह सब वर्ष अँधेरे में खाट पर लेटे हुए, ऊपर ताकती-खुली आँखों से ही मैंने काट दिए हैं—उमड़-उमड़कर आता कोरों और कनपटियों पर बहता हुआ पानी कानों में भरता रहा है और मैं यों ही तारों को बर्छियों के नीचे सुन्न पड़ी रही हूँ।

लो, लालटेन का तेल मन्द पड़ रहा है। इस तेज़ी से बुझती रोशनी में क्या लिखूँ? लिखने में सोचने के लिए जब सामने शृंगार मेज़ के शीशे में अपने-आपको देखती हूँ तो अँधेरे से घिरी इस परछाईं को देखकर डर से चीख पड़ने की इच्छा को बड़ी कठिनाई से रोक पाती हूँ। यह मेरी परछाईं···यह मेरा भविष्य!

अभी तक शब्दों में खोई रही, भूमिका बाँधती-सोचती रही। कैसे पूछूँ? अब रोशनी बुझी जा रही है, अँधेरा काले राक्षस के पंखों की तरह मुझे ढाँपे लेता है, इस डूबती हुई परछाईं को यह तो बता दो कि बेबी अनाथ नहीं है, मैं सुहागिन हूँ!

और सच मानो, अँधेरे के इस विकराल मुँह में मैं खुशी से खो

जाऊँगी···

तुम्हारी—कोई नहीं···

· जगह-जगह बूँदों से बिगड़े अक्षरों वाला यह तीसरा और अन्तिम पत्र भी समाप्त हो गया था।

सांस रोके चुपचाप बैठा रहा। गीली आँखें सामने के दरवाज़े की चिक के पार धूप में चमकती रेल की पटरियों पर जमी रहीं। आवेश में कांपते हाथ की उँगलियाँ उस आलपीन को निकालने में लगी थीं जिसमें ये तीनों पत्र नत्थी थे। अचानक निगाह पेपरवेट के नीचे दबे पंखे की हवा से फरफराते टाइप के पतले काग़ज़ की ओर गई, जिसे मुंशीजी अभी दबा गए थे। उसमें लिखा था—"इस दुर्घटना में पैंतीस आदमी जान से मारे गए, बानवे घायल हुए, दो की शिनाख़्त नहीं हो सकी, वे अस्पताल में हैं।"

इस नोट से चौंककर निगाह अख़बार के कोने पर छपी छोटी-सी ख़बर की ओर चली गई—"कोरिया में अमरीकी विमानों का आज तक का सबसे ज़ोरदार हमला! इस हमले में इतने भारी बमों का प्रयोग किया गया, जितना अभी तक किसी भी युद्ध में नहीं हुआ। अनुमान है इस हमले में सात हज़ार से अधिक जानें गईं और नुकसान का कोई अन्दाज़ नहीं लगाया जा सका। लाशें पचास मील दूर से देखी जा सकती थीं···"

पढ़कर झन्न से सारा शरीर जम गया, पता नहीं, कब इसी बीच में आलपीन पुराने घाव में जा चुभी। दर्द से झुँझलाकर जैसे जाग उठा। हुँ, क्या बेवकूफ़ हूँ कि ज़रा-सी ख़बर से चौंककर यों भावुकतावश आलपीन चुभा बैठा।

तो यह क़िस्सा है आलपीन चुभ जाने का। बोलो कोई बात भी हो। ट्रेन दुर्घटना में पैंतीस मरें या अमरीकी हमले में सात हज़ार। उन पर इंजन चढ़े या हाइड्रोजन बम। हम क्या करें? भाई, सच्ची बात तो यह है कि मरने वालों की मरने वाले जानें या जानें अख़बार वाले, जो ऐसे महत्वहीन समाचारों को दूसरे पृष्ठ पर दो इंच से अधिक जगह

नहीं दे सकते। अपनी तो मैं जानता हूँ। टूटी-जंग लगी आलपीन मेरी उँगली में ज़रा-सी चुभ गई है तो उँगली पक आई है और रात-भर ऐसी टीस मारती रही है कि एक पल को भी सो नहीं पाया हूँ। अब भी तकलीफ़ के मारे जी रोने-रोने को हो आता है।

और आलपीन भी कैसी ? कोई तीर, वल्लम, वरछी, वम नहीं; एक पतली-सी तारनुमा, जंग लगी टूटी आलपीन ! जिसमें सिर्फ़ तीन पत्र नत्थी थे, कुछ और भी अवश्य होंगे, यह फटे कागज़ के चिपके रह गए कोनों से पता लगता है। अब तो सब न जाने कहाँ होंगे। मेरे हाथ में तो तीन ही रह गए थे और उनको बाँधे रखने वाली यह पतली-सी आलपीन है—उन्हें ही तो निकालने की अनजान कोशिश में यह टूटकर चुभ गई है और तीनों पत्र विखर गए हैं।

मैं तय नहीं कर पा रहा हूँ कि इस मशीन के पंखे की हवा से इधर-उधर विखरे पत्रों के पन्ने समेट लूँ या इस चुभी हुई आलपीन को निकाल लूँ, जो वेहद तकलीफ़ दे रही है···

इस समय तो तीन पत्रों के ही पन्ने हैं, पता नहीं इस पिन में ऐसे कितने पृष्ठ और चिपके थे, जो टूटकर दिल में चुभ गए हैं।

सामने कोकाकोला की वोतल के झाग इस तरह सिमटकर वैठ गए थे, जैसे फँसी मक्खी को चूस डालने के वाद मकड़ा एक कोने में सिमटकर वैठ जाता है।

नीराजना



नीराजना

"बाबूजी, आपका मनीआर्डर आया है," कैप्टन साहब के नौकर ने दरवाज़े की ज़रा-सी सँध से झाँककर कहा।

"मेरा ?" नहा-धोकर खूब बिखरे हुए बालों को, शीशे के सामने खड़े होकर, तेल लगाने के बाद, वह संवारने ही वाला था, उसने मुड़कर पूछा।

नौकर चला गया था। उसने जल्दी से बाल काढ़े, तौलिया से मुँह पोंछा, उसे चारपाई पर फेंका और पैरों में बाथरूम-चप्पल घिसटाता हुआ वह तेज़ी से बाहर निकल आया।

बरामदे में बिछी बेंच पर अपना थैला इत्यादि रखकर बैठा डाकिया नोट गिन रहा था, उसे देखते ही वह खड़ा हो गया। डाकिये ने मनीआर्डर का नीचे वाला हिस्सा पहले ही फाड़कर रख लिया था, उसे देखते ही हस्ताक्षर के लिए क़लम और फार्म बढ़ा दिया। उसने

उँगली से संकेत किया—यहाँ हस्ताक्षर कीजिए, यहाँ कीजिए। इतनी बार मनीआर्डर लिये, उसे कभी भी दूसरी बार याद नहीं रहा कि हस्ताक्षर कहाँ करने हैं। उसने हस्ताक्षर किये—रविकुमार।

"कहाँ का है ?" दूसरी जगह हस्ताक्षर की तारीख डालते हुए उसने पूछा।

"इलाहाबाद, पाँच-सौ का है !" डाकिये ने रुपये बढ़ाये, उनके साथ मनीआर्डर-फार्म का नीचे वाला हिस्सा भी था।

"पाँच सौ का ?" एकदम आश्चर्य से चौंककर वह दो क़दम पीछे हट गया।

पाँच सौ का किस बात का है ? उसने जल्दी से नीचे का फटा हुआ हिस्सा देखा, नीचे टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखा था, "आपके सब रुपये लौटा रही हूँ। अब मत भेजिए। आशा है, आप क्षमा करेंगे।" नीचे हस्ताक्षर उसी के थे। हाँ, और ग़ौर से देखा, वही हज़ारों बार के जाने-पहचाने अक्षर—नीराजना। उसने एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा और उसकी उँगलियाँ धीरे-धीरे काँपने लगीं। उसने चिट उलटी—और कुछ नहीं।

डाकिया खड़ा हुआ दूसरे काग़ज़ उलट-पलट रहा था। जब भी उसका कोई मनीआर्डर आता, तो प्रायः दस रुपये पर एक दुअन्नी के हिसाब से उसका इनाम बँधा था। उसने जल्दी से उसके हाथ में एक रुपया रखा और भीतर चला आया।

किवाड़ भिड़ाकर वह ज़ोर से पलंग पर आ बैठा, "हुँ, तो उसने सब रुपये लौटाए हैं ! लौटा दिए ! क्यों ?" पास रखी छोटी मेज़ पर उसने सारे नोट पटक दिए और मनीआर्डर की चिट को वह एकटक देखता रहा—रुपये आख़िर उसने लौटाये क्यों ? कोई पत्र, कोई सूचना, कुछ भी नहीं, एकदम रुपये ही लौटा दिए। साथ ही स्पष्ट लिख दिया है कि भविष्य में कोई रुपये न भेजे जायँ। तो अन्त यों हुआ उन सब का ! इन तीन वाक्यों के सिवा एक शब्द भी अधिक नहीं। आख़िर

उसको हुआ क्या ?

वह खुली खिड़की के लहराते परदे के पीछे हरियालियों और ऊँचे पहाड़ों को देखता रहा, जिनकी चोटियों के आस-पास बादल धुएँ की तरह मँडरा रहे थे। नीचे उतरी चली जाती घाटियाँ और करधनी की तरह पहाड़ की कमर पर झूलती सड़कों की पतली डोरियाँ ! घने वृक्षों पर लटकते बया और दूसरे पक्षियों के घोंसले जैसे ऊपर-नीचे बँगले-मकान। घाटी के पार अंग्रेजी अक्षर 'वी' की शक्ल में खुले आसमान में दूर हल्के धब्बों-सी काँपती झीलें। वह यों ही अनमना और निर्लक्ष्य-सा बैठा देखता रहा। उसे प्रतिक्षण ऐसा लगता रहा, जैसे उसकी आत्मा में बरछे की नोंक जैसी कोई चीज़, परत पर परत, छेदती चली जा रही है, जिसकी पीड़ा से घड़ी की हर टिक् पर वह तड़पकर रह जाता है।

अचानक घंटी की आवाज़ से वह चौंका। हाँ, मेज़ पर खाने की प्लेटें लगाकर खानसामा घंटी बजाकर उन्हें बुला रहा है। बड़े डरते-से उसने किवाड़ों की ओर देखा और धीरे-से पलंग पर लेट गया। गीली तौलिया की सीलन और सिकुड़न उसे पीठ में महसूस हुई, लेकिन उसमें जैसे हिम्मत नहीं थी कि तौलिया को निकालकर फेंक दे। वह आँखें फाड़े पड़ा छत को घूरता रहा।

अँधेरे में घूमती सर्चलाइट की तरह रह-रहकर एक ही वाक्य उसके दिमाग़ में आता—तो उसने रुपये लौटा दिए, क्यों ? खुशी से तो उसने ये रुपये लौटाये नहीं होंगे—फिर ! इस 'फिर' का जवाब उसके पास नहीं था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि इसका अर्थ क्या ले ?

बेमालूम ढंग से किवाड़ खोलकर खानसामा ने कहा, "बाबूजी ! सरकार खाने की मेज़ पर बुला रहे हैं आपको।"

"खानसामा, मेरी तबियत ठीक नहीं है आज !" इतनी देर से एक ही ओर गड़ गई दृष्टि को उधर मोड़कर उसने कहा, "आज मैं खाना नहीं खाऊँगा।"

खानसामा थोड़ी देर चुपचाप उसे देखता रहा, फिर बोला, "थोड़ा दलिया तैयार कर दूं सा'ब ?"

"खानसामा, आज मेरी तबियत ठीक नहीं है, मुझसे मत बोलो !" इच्छा तो यह हुई कि इस व्यर्थ की बकवास करते खानसामा को खींचकर एक चाँटा जड़ दे, फिर भी भरसक चिड़चिड़ाहट को दबाकर उसने कहा और फिर ऊपर देखता हुआ लेट गया।

खानसामा अगली बात, शायद 'सूप' तैयार करने की, पूछने वाला था, लेकिन चुपचाप चला गया। अब उसकी समझ में एक बात धीरे-धीरे आने लगी—अपमान, अपमान ! क्या यह स्पष्ट अपमान नहीं है ? नीराजना ने उसके रुपये लौटा दिए। बात असली यही थी, जिसने उसे इतना स्तब्ध और विक्षुब्ध बना रखा था। डाकिये के सामने स्लिप पढ़ते ही जो धक्का उसे लगा था, वह यही था। यह धक्का इतना अप्रत्याशित और गहरा था कि वह देखता ही रह गया। अपनी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर डालने वाला कोई एक शब्द उसके मस्तिष्क में आया ही नहीं।

ग्यारह बजे से एक बजे तक पलंग पर पड़े रहने के बाद वह धीरे से उठा। अब उसकी समझ में आया, यह धक्का अपमान का था—अपमान जिसकी चोट से वह तिलमिला कर रह गया है—किंकर्तव्यविमूढ़ और जड़। उसने पुतले की तरह कपड़े पहने, मेज़ पर पड़े नोटों को दराज़ में डाला और सिगरेट का टिन उठा लिया। रुपये ! पता नहीं, कैसी मुसीबतों में मैंने ये रुपये भेजे थे ! अच्छा ही तो हुआ कि अब सब लौट आए। पन्द्रह-बीस दिन बड़े आनन्द से 'हैकमन' में खाना खाऊँगा, आमोद करूंगा। न सही 'हैकमन' कुछ और सही। रुपया तो जीवन की धुरी है। फिर भी···फिर भी उसे लौटाना नहीं चाहिए था, कम-से-कम···

वातावरण कुछ अजीब सीला-सीला हो उठा था और बादलों का धुआँ बुरी तरह चारों ओर फैला हुआ था। बरामदे की सीढ़ियों पर खड़े

होकर उसने सिर उठाकर देखा, शायद पानी बरस जाय। लेकिन फिर वह निकल पड़ा। इस बँगले से ढालू सड़क, मुख्य सड़क से जाकर मिल गई थी, हर क़दम पर कंकड़ चरमरा उठते थे। आज बादल ग़ज़ब के घिर आए थे। सामने छः-सात फीट से आगे देखना मुश्किल था। शरीर भीगा-भीगा-सा लगता और बादलों की गन्ध नाक में भर जाती तो ऐसा लगता, जैसे कच्ची मूंगफलियों को कहीं कोई भून रहा हो—सांस घुट जाती है।

'केमिल बैक रोड' खत्म करके जब वह माल पर आया, तो बादल कम हो गए थे। जब कभी याद आने पर सिगरेट के कश खींच लेता और निरुद्देश्य, निर्लक्ष्य चलता जाता। रिक्शा चलाने वाले कुलियों की एक बड़ी लम्बी लाइन लगी थी—ख़ाली रिक्शे और डांड़ी लिये। माल रोड पर लोग इधर-से-उधर जा रहे थे—सब जैसे धुंधलके में लिपटे, जैसे स्वप्नलोक की कुछ मूर्तियाँ चल-फिर रही थीं। सब-कुछ उसे ऐसा दिखाई देता, जैसे 'आउट आफ़ फोकस' फोटो हों।

कुलड़ी को ऊपर जाने वाले चढ़ाव के नीचे वाली बैंच पर घाटी की तरफ़ मुंह करके वह बैठ गया। यह उसकी प्रिय जगह थी। चौबीस घंटे में एक बार वह अवश्य यहाँ आकर बैठा करता था। यह माल का प्रारम्भ था। माल मसूरी की शान है। मसूरी के सबसे अच्छे सिनेमाघर, रैस्टराँ, कैफ़े इसी सड़क पर हैं और संध्या के समय तो जैसे इस सड़क पर कोई रंग-बिरंगे फूल बिखरा देता हो। इस ऊँची-नीची चोटी सड़क पर न जाने कब से वैभव की धार फिसलती आई है—यौवन की लहरों में उमंगित और सौन्दर्य के फेनों में तरंगित। युवा सौन्दर्य की जलनी-पिघलती भावुकता नस-नस को उबाल देती है। सौन्दर्य! सौन्दर्य! सौन्दर्य! रंग-बिरंगा सौन्दर्य! जवान और अल्हड़ सौन्दर्य! मस्त और मोहक सौन्दर्य! सरसराती सलवारें, उड़ते दुपट्टे, डुगडुगी-से साये, कस-कर लपेटी गई अंग-अंग के उभार को सुस्पष्ट करती साड़ियां! लापरवाही से कन्धों पर पड़े आधे और पूरे 'फर' वाले चेस्टर, शाल! नागिन-सी

लहराती-मचलती दो-दो चोटियाँ, जूड़े—महाराष्ट्रियन, गुजराती बंगाली! बिखरे बाल, जाल में बंधे बाल! हाथों में झूलते पर्स! पाउडर-लिपस्टिक, रूज, भौंहें—पफ़्ड हेयर, बॉब्ड हेयर, कर्ली हेयर! विलायती खुशबुओं में झूमता, संसार को चुनौती देता बेपरवाह सौन्दर्य! साथ में पुरुष दबे-से, मिमियाते, फटीचर, कोट-पेंट या जर्सी—जैसे साथ में पालतू कुत्ते पूंछ हिलाते चले जा रहे हों। कभी पहाड़ों की तरफ़ देखकर भावुकता का नाट्य करके कह देते, "हाउ लवली इज़ द सीन!" जैसे अपने मुंह से निकालकर इन शब्दों पर उन्होंने बड़ा अहसान किया हो। बॉक्स कैमरे लटकाए, जैसे पिस्तौल लटकाए जा रहे हों। सारा संसार जैसे सैर के 'मूड' में निकल पड़ा हो—रेलिंग के सहारे लगी बैंचों पर (जो पहाड़ी सौन्दर्य को देखने के लिए बनाई गई हैं) बैठे हुए भी, मुड़-मुड़कर इस बहती सौन्दर्य-धारा को ही देखते हैं—साथ वालों के भाग्य पर रश्क करते हुए। कुछ और मनचले हुए तो उनके कपड़ों या ढंग में कोई-न-कोई कमी निकालकर उनका मज़ाक उड़ाकर हंसते हुए और साथ में चलने वाले, कभी गर्व से तने, कभी घूरनेवालों की बदतमीजियों पर झुंझलाते हुए—बच्चों को गोद में लिये चले जा रहे हैं। लेकिन साथवालियाँ किसी को घूरता हुआ देखकर, जान-बूझकर लापरवाही दिखाती हुईं—कभी जूड़ा ठीक करेंगी, कभी साड़ी की सलवटें निकालेंगी, कभी दुपट्टे को फिर उठाकर डालेंगी।

आज माल पर बादलों का धुन्ध छाया हुआ था—हवा के झोंकों से जो कभी घाटी में सिमटकर रह जाता और सड़क साफ़ हो जाती और कभी सड़क पर परदे की तरह तन जाता।

लेकिन आज उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा। उसके अवचेतन मन में यह सब मधु-मक्खियों की भनभनाहट की तरह गूंजता रहा। छाती पर किसी ने बोझ रख दिया था कि सांस लेने में तकलीफ़ होती थी। दिमाग़ में जैसे कोई तरल और हल्की चीज़ जमकर ठोस हो गई थी—स्पन्दनहीन। हर क्षण उसका दम इस तरह घुटने लगता था,

जैसे वह डूब रहा हो—विवश और असहाय ! खुली आँखों से वह गहरी घाटी के पार उठे पहाड़ों को देखता रहा। कभी घाटी में भरे बादलों का नीला धुआँ, घर, पेड़, सड़क, सबको डुबाता हुआ, इस तरह माल की सतह से दूर पहाड़ों तक छा जाता कि लगता वह झील के किनारे बैठा है। तब रह-रहकर एक अदम्य इच्छा उसके मन में उठती—कैसा अच्छा हो यदि वह एक उन्मुक्त छलांग लगाकर इन बादलों की अथाह गहराइयों में डूब जाय !

खण्डहर के सूने गुम्बद में इधर-से-उधर घूमते मनहूस चमगादड़ की तरह एक ही बात उसके दिमाग में फ़ड़फड़ा रही थी—उसने रुपये लौटा दिए—क्यों ? मुझे इस तरह अपमानित ही करना था तो पहली बार लिये ही क्यों थे ?

पता नहीं कितनी देर वह वहाँ बैठा रहा। अचानक कन्धे पर किसी के स्पर्श से चौंककर उसने देखा—रोज़ी, हाथ में रैकिट लिये।

"आप यहाँ कैसे बैठे हैं ? हम लोग तो आपके यहाँ जा रहे थे।" रोज़ी बोली। उसके साथ वाली मधु ने केवल नमस्ते किया और पहाड़ों की ओर देखती रही।

"नहीं रोज़ी, आज मेरी इच्छा नहीं है। वहाँ दर्शन होगा, और सब होंगे ही।" उसने जैसे गिड़गिड़ाकर कहा और मधु के नमस्ते का बड़ा सुस्त-सा उत्तर दिया।

मैकलीन से साफ किये गए दाँतों की चमक दिखाने वाली विज्ञापित लड़की की फोटो की तरह हँसती हुई रोज़ी ने अँग्रेज़ी में कहा, "ओह ! तो आज आपकी तबियत खराब है ! बहुत उदास हैं आप !"

जवाब में फीकी-सी मुस्कान लाकर उसने कहा, "हाँ, सिर में दर्द है। 'गेम' को किसी और दिन के लिए रख लो। टाटल धाकर मेरे कमरे से निकलवा लेना !" और वह मुड़कर बैठ गया। रैकिट हाथों में घुमाती हुई रोज़ी मधु के साथ चली गई।

चार बज गए ! बैंच की टेक पर हाथ फैलाकर घड़ी की ओर

देखते हुए उसने सोचा और एक गहरी साँस उसके फेफड़ों से बाहर निकल आई। कैप्टन साहब के बँगले पर ही बैडमिंटन कोर्ट है, जो पहाड़ों में किसी ही कोठी में होता है। इसीलिए रोज़ी और मधु इतनी दूर खेलने जाती हैं। कैप्टन साहब के दोस्त की लड़की है रोज़ी। मधु नई ही है, चुप और शरमीली। खेलना सीख रही है। वहाँ भी कुछ और आस-पास के बंगलों से आ जाते हैं। रोज़ी पन्द्रह-सोलह वर्ष की है, वाइनबर्ग में पढ़ती है और गजब का खेलती है। फुरती तो इतनी कि बिजली की तरह इधर-उधर कौंधती ही रहती हैं। कोर्ट में जिस समय वे दोनों ही हों, खेल देखने लायक होता है। इंजन के सिलण्डर की तरह शटलकार्क 'शटाक्'-'शटाक्' इधर से उधर भागता है।

शान्त तालाब में एक क्षण को चंचलता आई थी। वह फिर सुस्त और उदास, करवट बदलकर बैठा रहा—जड़ पत्थर-सा।

और जब दिन-छिपे की बत्तियाँ जल गईं, तो वह धीरे से उठा। एक क्षण को उसे अपने-आप पर बड़ी झुँझलाहट हुई—क्या बेवकूफ है! एक मूर्ख लड़की ने उसके रुपये लौटा दिए और वह यों मरा जा रहा है। लेकिन तत्काल ही उसे फिर निराशा और उदासी के केकड़े ने अपनी बाँहों में कस लिया। कुलड़ी पार करता हुआ वह राजपुर-बालगिज वाली सड़क पर आ गया। एक-आध सैलानी ने उससे मॉसीफाल का रास्ता पूछा। सुनसान! सुनसान वह चाहता था, जहाँ कोई न हो! पहाड़ों की मरोड़ों में बल खाती हुई सड़क ढालू चली गई थी। दो-तीन मोड़ पार करके वह फिर बैंच पर बैठ गया, वातावरण अब भी बादलों से बोझिल था।

पीछे ऊँची पहाड़ी दीवार चली गई थी और सामने अथाह अँधेरे से भरी घाटियों में बिजली की बत्तियाँ जगमगा रही थीं, जैसे पहाड़ों की कगार पर दूर तक किसी ने दीपावली मनाने के लिए दीये रख दिए हों। बत्तियों की तीन-चार लाइनें नीचे दूर देहरादून तक चली गई थीं। सामने ऊँचे पर माल के दोनों ओर कुलड़ी और लाइब्रेरी

जगमगा रही थी, जैसे प्रवेश-द्वार बल्बों से सजा हो। ऐसा लगता था, जैसे किसी ने कसौटी के काले पत्थर पर सोने से आड़ी-तिरछी लकीरें खींच दी हों, या जैसे पहाड़ों पर लगी ये रोशनियां किसी विराट् बैंजो के बटन हैं और अंधेरे का बुर्का पहने किसी के कोमल-अदृश्य हाथों की उंगलियां बड़ी तीव्र गति और क्रम से इन पर पड़ती हैं। हर बटन उंगली पड़ने से दब जाता है, फिर उभर आता है, और एक करुण संगीत की अव्यक्त ध्वनियां सारे वातावरण में थरथरा रही हैं। लहर जैसे किनारे से टकराकर चुपचाप बिखर जाय, इसी तरह उसके हृदय से इस सुनसान एकान्त अंधेरे और रात में चमकते प्रकाश-बिन्दुओं के संगीत की लहरें टकराती रहीं।

उसने अनुभव किया कि बादल घने हो गए हैं और वातावरण भीगता जा रहा है। यह अकेलापन, रात उदास और बैठा जाता-सा उसका निराश हृदय, सुनसान! कभी कोई बाजार से लौटने वाला उसके पीछे से चुपचाप भले ही चला जाय। अगर वह यहां से गिरकर मर जाय तो? कौन है जिसकी आंखों में दो आंसू भी आयेंगे? कोई नहीं, कोई नहीं।

हल्की-हल्की बूंदें पड़ने लगीं।

मान लो, जोर से वर्षा हो और वह यों ही बैठा जम जाय! शायद कोई भी तो दुनिया में ऐसी नहीं है, जो उसकी लाश के जमे माथे पर स्नेह का हाथ फिरा सके। एक यह है नीराजना, पता नहीं, कैसे-कैसे करके रुपये भेजे और उसने चुपचाप लौटा दिए, एक शब्द भी नहीं लिखा। यह है सहानुभूति का अपमान! कितना अप्रत्याशित, क्रूर, निष्ठुर!

और पता नहीं कब उसकी आंखों में भरे आंसू इधर-उधर बह चले—पहले चुपचाप चलते रहे, फिर तो जैसे उबल-उबलकर आंखों में भर आने लगे।

विशाल पहाड़ की एक सिकुड़न पर बनी, सड़क के किनारे की एक

बेंच पर बरसती बूंदों के नीचे वह क्षुद्र मनुष्य देर तक सिसक-सिसककर रोता रहा, जैसे इतनी देर से जमा विषाद बह जाना चाहता था।

आध घंटे वर्षा हुई। आध घंटे वह रोया!

उसे जुकाम हो जायगा—निमोनिया, बुखार, या हो सकता है ठंड से वह अकड़कर ही रह जाय; लेकिन नहीं, सब जानते हुए भी वह चुपचाप भीगता ही रहा।

और फिर बड़े निर्जीव क़दमों से वह गरदन झुकाए धीरे-धीरे लौट आया। मुरझाई केंचुली की तरह सड़कें उदास पड़ी थीं।

वह चुपचाप अपने कमरे में जाकर पड़ जाना चाहता था, इसलिए बड़े आहिस्ते से उसने बरामदे की सीढ़ियाँ पार कीं।

"मिस्टर कुमार, हम लोग आपकी राह देख रहे हैं।" अचानक बरामदे के किवाड़ों को थोड़ा खोलकर कैप्टन दास ने जरा-सा झाँककर कहा।

उसे जाना पड़ा। कपड़े उसके भीग रहे थे, बाल अस्त-व्यस्त थे और आँखें जल रही थीं। किवाड़ खोलते ही, ज्यों ही कमरे में से आती हुई रोशनी उसके ऊपर पड़ी, कैप्टन दास एकदम बोले, "यह क्या? आप तो कहीं भीगे हैं! जाइए, पहले कपड़े बदलकर आइए!"

बड़ी अनिच्छा से जब वह कपड़े बदलकर अपने कमरे से आया, तो कैप्टन दास और मिसेज दास खाने की मेज पर बैठे थे। लड़का दर्शन और सबसे छोटी लड़की शैला शायद जाकर सो गए थे। कैप्टन के ठीक सामने उसके लिए कुरसी खाली थी, उसी पर वह आकर बैठ गया। उसने अनुभव किया, दोनों ही बड़ी विचित्र दृष्टि से उसे देख रहे हैं, बोलना चाहकर भी नहीं बोल रहे। खानसामा प्लेटें लगा चुका था। जब उसके बैठते ही खानसामा ने एक प्लेट रख दी, तो डरते-झिझकते, जैसे कोई अपराध कर रहा हो, उसने कहा, "खानसामा, ये प्लेटें उठा लो!"

यह स्पष्ट था कि खाना खाने का समय नहीं है, शायद वे लोग उसके लिए राह देखते रहे हैं। उसकी बात सुनकर दोनों ने पलकें उठाकर उसे देखा, फिर अपने सामने रखी प्लेटों पर दृष्टि झुका ली। कैप्टन दास ने अपनी नेपकिन ठीक की और चम्मच से तरकारी का रस मुंह में डालकर कहा, "नहीं, रख जाओ!" स्वर में आज्ञा थी।

उसने भी एक बार दोनों की निगाहों को अनुभव किया और फिर वह चुप रहा। हर क्षण उसे अनुभव होता, जैसे वह विदेशी और जबर्दस्त लदा हुआ बोझ हो···और यह अनुभूति धीरे-धीरे गहरी ही होती जा रही थी। उसे ऐसा लगा, जैसे कैप्टन दास कुछ कहना चाहते हैं। उसके लिए या तो वे बहाना तलाश कर रहे हैं, या फिर साहस एकत्र कर रहे हैं। वह मन्द गति से खाता रहा।

बिना ज़रूरत ही गिलास से ज़रा-सा पानी पीकर कैप्टन दास ने धीरे से कहा, "आप जानते हैं मिस्टर कुमार! हम लोग—मैं और डॉक्टर मुकर्जी—कब से एक दूसरे को जानते हैं?"

यह भी कोई प्रश्न है? फिर भी उसने नासमझ बनकर, एक क्षण उनके चेहरे को देखा, फिर धीरे से ही उत्तर दिया, "जी, उन्होंने बताया था कि आप कालेज में साथ रहे हैं।"

"हां, हम दोनों क्लास-फेलो ही नहीं, एक ही कमरे में भी रहते थे।" कैप्टन ने अब ज़रा खुलकर कहा, "और शायद आपको यह भी मालूम है कि जब आपके लिए उन्होंने लिखा था, तो मैंने क्या जवाब दिया था?" एक क्षण को उत्तर के लिए उन्होंने कुमार की ओर देखा और फिर वे स्वयं ही बोले, "मैंने लिखा था, इस 'पेइंग गेस्ट सिस्टम' के मैं खिलाफ हूं; क्योंकि जब यही आदमी को करना है, तो होटल में रहे! बम्बई, कलकत्ता और अब देहली में तो ठीक है, लेकिन कम-से-कम मसूरी जैसी जगह के लिए मैं इसे जरूरी नहीं समझता।"

"मैं समझा नहीं।" किस 'मूड' में यह बात कही गई है, यह देखने के लिए उसने उनके चेहरे की ओर देखा और कान फिर इधर

लगाकर नीचे प्लेट में देखता रहा।

"हाँ, वही तो मैं बता रहा हूँ आपको—बम्बई जैसी जगह में तो ठीक है कि आपने अपने फ्लैट का एक कमरा दे दिया। लाइफ़ वहाँ इतनी बिज़ी है कि शायद खाने के वक्त ही आप मिलें, वह भी बड़े ऊपरी-ऊपरी, फार्मल।" इसके बाद उन्होंने बड़ी जल्दी में कहा, "लेकिन मसूरी तो बड़ी शान्त और एकान्त जगह है न! यहाँ यदि एक ही फेमिली की तरह घुल-मिलकर न रहा जाय तो बड़ा मुश्किल पड़ जायगा। और देखिए मिस्टर कुमार! बुरा मत मानिए। यह ठीक है कि आर्थिक विषमताओं के कारण आदमी-आदमी के सम्बन्धों का पुल रुपयों से ही बनता है, लेकिन क्या हमें हमेशा ही इस बात का ध्यान रखना होगा? या उसी सतह को आधार बनाकर बात करनी होगी? क्या हम लोगों को किसी और आदमी से सिर्फ़ इसलिए बोलना भी नहीं चाहिए कि हमारा और उसका स्पष्ट स्वार्थ का या आर्थिक सम्बन्ध नहीं है?"

पहले तो वह समझा ही नहीं, क्योंकि वह अपने-आप में ही अधिक खोया हुआ था; लेकिन जब फिर सचेत होकर उसने सोचा, तो उसका चेहरा तमतमाने लगा।

"आप मेरे बारे में कह रहे हैं?" उसने यथासम्भव संयत स्वर में पूछा।

"नॉट पर्टीक्युलर्ली एवाउट यू, लेकिन मैं कहता यह हूँ कि हम सभी जानते हैं, हमारे पारिवारिक सम्बन्ध भी आर्थिक स्थिति पर निर्भर होते हैं। लेकिन हमेशा ही सब चीज़ें उसी से थोड़े ही तोली जाती हैं। उसके ऊपर भावना के परत हैं जो उन सम्बन्धों को मधुर रखते हैं और तभी परिवार चल सकता है, वरना 'पेइंग गेस्ट' तो हम सभी हैं। मैं पूछता हूँ, आप सुबह से ही परेशान हैं, क्या इस चीज़ से हमें कोई मतलब नहीं होना चाहिए?" कैप्टन उत्सुकता से उसकी ओर देखते रहे।

बात उसकी समझ में आई और अचानक जागे अहं का उठा

हुआ फन झुक गया और वह प्राय: निरुत्तर चुपचाप देखता रहा।

"मैं देख रहा हूँ, सुबह जब से डाकिया रुपये देकर गया है, तुम परेशान हो, तुमने खाना नहीं खाया। रोजी बता रही थी, तुम माल पर बैठे थे। इसका मतलब है, आज स्कूल भी नहीं गये पढ़ाने, कपड़े तुम्हारे बता रहे हैं कि तुम खूब भीगे हो और अब इतनी ठण्ड है तो भी तुम एक कमीज़ पहने हो, यह अपने से दुश्मनी नहीं तो और क्या है?"

उसकी झुकी आँखों में फिर पानी भर आया और उसकी इच्छा हुई कि वह फूट-फूटकर रो उठे। बड़ी मुश्किल से अपने मुँह के कौर को वह काफ़ी देर तक चबाता रहा। उसे लगा था कि वर्षा में भीगकर और खूब रोकर उसके मन की सारी घुटन घुल गई है, लेकिन कैप्टन साहब ने उसे जैसे छू दिया।

"खाओ न!" बड़े अनुरोध से कैप्टन बोले, "आपका यह रवैया एक परिवार का रवैया नहीं है, यह होटलों का ढंग है कि हमारा-आपका सम्बन्ध सिर्फ खाने और रहने तक हो। कोई मुश्किल, कोई मुसीबत यदि मेरे ऊपर आती है तो क्या मैं आपसे सहायता की आशा न करूँ?"

"क्यों नहीं?" उसके घुटे गले से बड़ी मुश्किल से स्वर निकला।

"सो तो है ही।" इस बार मिसेज़ दास बोलीं। वे बड़ी आत्मलीन-सी बैठी थीं। कैप्टन दास खाते रहे।

"तो क्या इसी तरह हम आशा नहीं करते कि आप पर कुछ परेशानी हो तो आप हमें मौक़ा देंगे? आपस में बैठकर बातचीत करने से ही बहुत सी बातें हल हो जाती हैं, आखिर ये रुपये कैसे हैं कि इन्होंने आपको इतना डिस्टर्ब कर दिया? आप तो बहुत शान्त तबियत के आदमी हैं!"

बात उसकी समझ में आई। अपनी चम्मच को व्यर्थ ही इधर-उधर चलाता रहा, "छिपाना तो मैंने कुछ भी नहीं चाहा, लेकिन यह

चीज़ इतनी अप्रत्याशित हुई कि इस धक्के को मैं संभाल नहीं पाया। वैसे कोई ख़ास बात भी नहीं है। अब मैं बिलकुल ठीक हूँ।"

गोद में फैली तौलिया उसने कुरसी के पिछले हिस्से पर डाल दी और बाथरूम में चला गया। अपने को संयत करता रहा। जब वह लौटा, तो प्लेटें हट गई थीं और कॉफ़ी के प्याले रख दिये गए थे।

कॉफ़ी को ज़रा-सा 'सिप' करके उसने कहा, "पहले चाहे कोई छिपाने की बात रही भी हो, आज तो मैं कोई ऐसी बात नहीं समझता। बात सिर्फ यह थी कि पिछले दिनों जब मैं इन्दौर में टेम्परेरी लेक्चरर था, तो 'फ़र्स्ट ईयर' में एक लड़की आई, नीराजना। वह क्लास में लड़कों की तरह हँसती थी और बिलकुल बेझिझक होकर सामने वाली सीट पर बैठती थी। आस-पास की लड़कियाँ कोई ऐसी-वैसी बात आ जाने पर शर्मातीं, झेंपतीं, लेकिन वह जैसे निर्लिप्त—एक बार उपेक्षा से उन्हें देख लेना और बस फिर वही ख़ूब ज़ोर से बोलती और बात-बात में मुझसे बहस करती। कभी-कभी पूरे 'पीरियड' में मैं कुछ न पढ़ा पाता। लड़कों में भी बड़ी हलचल थी और वे चकित थे। वह सबसे बात करती थी। अब लड़के उड़ाने लगे, 'अपने सामने वाली सीट के लड़के को देख-देखकर वह यों मुस्कराती है, उससे यों आँखें लड़ाती है, वह लड़का उस पर यों जान देता है।' मैं खुद क्लास में बड़ा अव्यवस्थित हो जाता था। एक दिन क्लास से निकलते ही वह बोली, 'आपको हमारे फ़ादर ने बुलाया है।' मैंने ताज्जुब से पूछा, 'आपके फ़ादर? वे मुझे क्या जानें?' वह बोली, 'मुझे कुछ नहीं मालूम, बुलाया है।' खैर, मैं गया। जानते तो नहीं थे, लेकिन उन्होंने बड़ी इच्छा प्रकट की कि मैं उस लड़की का 'ट्यूशन' कर लूँ। मैं तैयार नहीं हुआ। एक तो यह कॉलेज के नियम के खिलाफ़ था, दूसरे क्लास में 'डिसिप्लिन' रखने के हिसाब से भी वह चीज़ बड़ी खराब हो जाती है। लेकिन वह नहीं माने तो हारकर कभी-कभी कोच करने का वायदा करना पड़ा, इस विश्वास पर कि न वे किसी से कहेंगे और न नीराजना ही कहीं ज़ाहिर

करेगी।

"दास साहब ! मैं क्या बताऊँ, उसके बारे में ! कैसा तेज उसका दिमाग़ चलता था ! जिस चीज़ को भी पढ़ाना, लगता, वह पढ़े बैठी है। उसमें लिखने की शक्ति और प्रतिभा थी, उसे मैंने काफ़ी उभारने का प्रयत्न किया। अभी तक इतने लड़के-लड़कियों को पढ़ाने का मौका आया है, लेकिन उतनी इण्टेलिजेण्ट लड़की मुझे नहीं मिली। जीवन-भर पढ़ते रहने के लिए उसके मन में बड़ा चाव था, बड़ा उत्साह ! मुझसे बहुत खुल गई थी। मैं हँसकर कहता, 'पढ़ ले, शादी के बाद तो इन किताबों में घुन लगेंगे और जो पढ़ा है, सब सड़ेगा।' वह कहती, 'मैं शादी करूँगी ही नहीं !' मैं बड़े ज़ोर से हँसकर कहता, 'सभी लड़कियाँ यों ही कहती हैं।' वह जवाब देती, 'देखिए, मैं कहीं भी नौकरी करूँगी और पढ़ूँगी !'

"हुआ ऐसा कि दूसरे साल भी टेम्परेरी ही रहा। उन दोनों ही साल मैंने उसे पढ़ाया। हालाँकि हर क्षण मुझे अनुभव होता कि यह अलौकिक प्रतिभा विवाह के अग्निकुण्ड में झोंक दी जायगी। और वह स्वयं इतनी तेज है कि उसे पढ़ाने की जरा भी जरूरत नहीं है। उसकी एक-एक पग उन्नति को देखकर मुझे आत्मिक सन्तोष होता और ऐसा लगता जैसे उसे नहीं, यह सब प्राप्ति मुझे हो रही हो।

"बीच में मुझे यहाँ जगह मिल गई और मैं यहाँ आ गया। 'सेशन' खत्म करने के बाद वह इलाहाबाद चली गई, क्योंकि उसके फादर रिटायर हो गए। अब उसकी शादी का चक्कर आया। एक तो स्वतन्त्र रहकर पढ़ने की उसकी ही अदम्य इच्छा थी, फिर उसमें मेरी विद्रोहिणी शिक्षा। उसने सत्याग्रह कर डाला कि चाहे दुनिया इधर-की-उधर हो जाय, वह पढ़ेगी। एक पत्र लिखकर उसने मुझे बुला भेजा।

"मेरे सामने सारी परिस्थितियाँ दोनों ओर से रखी गईं। उसके माँ-बाप ने कहा कि मैं उसे समझाऊँ। और उसने रोकर बताया कि वह शादी किसी भी हालत में नहीं करेगी, फाँसी लगाकर मर जायगी, भाग जायगी,

भीख माँगेगी, चौका-बरतन करेगी या कोई दूसरी नौकरी करेगी और आगे पढ़ेगी। उसने यह भी बताया कि माँ-बाप ने साफ़ कह दिया है कि पढ़ाने-लिखाने के लिए उनके पास एक भी पैसा नहीं है। कहाँ से लायें ? रिटायर हो गए हैं। जो फण्ड मिला है उसे पढ़ाई में फूंक दें, तो शादी के लिए कहाँ से आएगा ? लड़के वाले अनाप-शनाप माँगते हैं। फिर दूसरे बच्चे भी तो हैं। मैंने पूछा, 'सच बताओ, नीरा! तुम सचमुच पढ़ना ही चाहती हो या शादी किसी और वजह से नहीं करना चाहती ?' वह रो पड़ी, शायद उसे मुझसे ऐसी आशा नहीं थी। रोते हुए उसने कहा, 'आपकी भी इच्छा नहीं है, तो नहीं पढ़ूंगी। जो आदमी नहीं जानता हो, उससे कुछ कहा भी जाय !' मैं पिघल उठा, वह मेरे ऊपर इतना विश्वास करती है और मैं मूर्ख यों धोखा दे रहा हूँ, सोचकर मन उच्छ्वास से भर गया। मैंने पूछा, 'पढ़कर क्या करोगी ?' आँसुओं में नहाई लाल आँखों से उसने मुझे देखा, 'क्या करूँगी ? क्या होता है पढ़कर ? भाड़ में जाऊँगी, टीचर हो जाऊँगी और अपनी जिन्दगी को रोऊँगी।' 'यह मतलब मेरा नहीं भाई !' मैंने उसे समझाया कि यदि वह बुरा न माने, तो मैं उसे पचास रुपये महीने के हिसाब से दे सकता हूँ। जब सुविधा हो वह लौटा दे। वैसे लौटाने की मुझे अधिक इच्छा नहीं है। वह झिझकी, प्रश्न आया—माँ-बाप कैसे स्वीकार करेंगे, और लोग क्या कहेंगे ? हमने तय किया कि वह अभी से बताने लगे कि उसने एक खास 'स्कालरशिप' के लिए 'एप्लाई' किया है। फिर पचास रुपये चुपचाप मिल जाया करेंगे। बस क़िस्सा यह है।"

उसने सारा किस्सा इस तरह जल्दी-जल्दी बता डाला, जैसे किसी रूखे और असफल उपन्यास का कथानक बता रहा हो, और बाक़ी कॉफ़ी को एक ही घूंट में समाप्त करके उसने कहा, "और आज तक कोई चिट्ठी नहीं, पत्री नहीं, आज तक के सारे रुपये लौट आए हैं। ज़रा-सा संकेत तो देना ही चाहिए था।"

"वही पुराना क़िस्सा !" मिसेज़ दास ने कहा।

"लड़की !" और कैप्टन दास इतने ज़ोर से हँसे कि पूरा कमरा गूंज गया। वह और मिसेज़ दास आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगे। उन्होंने कहा, "एक लड़की ने तुम्हारे रुपये लौटा दिए और तुम मरे जा रहे हो, भीग रहे हो, भूखे रह रहे हो और यों आवारा की तरह भटककर जान दे रहे हो !" वे दुबारा और भी जोर से हंसे और बोले, "तुम भी मिस्टर कुमार ! आदमी मुझे काफ़ी ऊँचे लगे। आप सिर्फ़ यह आत्महत्या इसलिए कर रहे हैं कि एक लडकी ने आपके रुपये लौटा दिए हैं !" फिर गम्भीर होकर उन्होंने एक बार मिसेज़ दास की ओर देखा और ऐश-ट्रे में रखी जली दियासलाई की सींक को उसी में तोड़ते हुए कहा, "तुम जानते हो, नीत्शे ने औरत के बारे में क्या कहा है ! शेक्सपियर की लाइनें तो याद हैं, 'फ्रेलिटी दाइ नेम इज़ वूमन' मिस्टर ! जिसे आप जिन्दगी और मौत का सवाल समझते हैं, वह लड़कियों के लिए एक खेल है—समझे ? शॉ ने इन्हें प्रकृति का भेड़िया बताया है ! वह लड़की क्या, जिसने दो-चार की जिन्दगियां न खराब कर दीं।"

"लेकिन···लेकिन विश्वास भी तो कोई चीज़ है !" जैसे हारकर घिरे हुए खिलाड़ी ने आखिरी दांव लगाया।

"विश्वास ! विश्वास स्त्री का जाल है, जिसमें वह आपको बांधती है। विश्वास बिल्ली के पंजों की गद्दियाँ हैं, जहाँ उसके नाखून छिपे रहते हैं। आप कहेंगे, सभी औरतें एक-सी नहीं होतीं। पर मैं कहता हूँ, छोटा-बड़ा, काला-सफेद होने से कुछ नहीं होता, सभी बिल्लियों के पैरों में गद्दियाँ होती हैं और उन्हीं के नीचे उनके नाखून होते हैं। औरत आपको एक गाल पर चूमेगी और दूसरे ही क्षण उस पर चांटा मारेगी—क्यों और क्या की तो वहां जगह ही नहीं है। रीज़न—विवेक तो औरत की दुनिया में है ही नहीं। तुम भी किस चक्कर में पड़े हो, मिस्टर कुमार ! उसे कोई और मिल गया होगा और उसने तुम्हारे रुपये लौटा दिए। इसमें इतनी परेशानी की क्या बात है ?" बड़ी आसानी से कैप्टन दास ने कहा।

मिसेज़ दास चुपचाप उठकर चली गई।

और सच ही उसे ऐसा लगने लगा कि कितना बड़ा बेवकूफ़ है वह ! ज़रा-सी बात पर अपनी तन्दुरुस्ती खराब करने पर तुल गया है। यह ठीक है कि कैप्टन साहब की बातें उसकी आस्था को पूरी तरह नहीं झकझोर पाईं, लेकिन उसे यह लगने लगा कि रुपये लौटा देना कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, जिसके लिए इस तरह रोया और परेशान हुआ जाय। हो सकता है, कोई विशेष कारण हो, पत्र आता हो या समझौता ही हो गया हो ! मगर···

और रात को उसने थोड़ी ब्रांडी ली—भीगने से कहीं तबियत खराब न हो जाय !

बस पर चढ़ने से पहले एक बार उसने फिर तार के फार्म को जेब से निकालकर देखा—हाँ, आज की ही तारीख तो है—"२५ को सुबह पहुँच रही हूँ—नीराजना।"

ऊँची-नीची भूमि पर झूमती-झामती बस जब देहरादून की ओर दौड़ी, तो जिज्ञासा और उत्सुकता के मारे उसका बुरा हाल था। इच्छा होती थी, इस बस के और अपने शरीर के सब बन्धनों को तोड़-फोड़कर वह वहाँ पहुँच जाय और पूरी बात जान ले—वह यहाँ आ रही है; क्यों आ रही है ? पहले किसी पूर्व-सूचना या समाचार के बिना रुपये भेज दिए और ये दस-बारह दिन कैसी बेचैनी से वह काट पाया था। ऊपर से वह निश्चिन्त था, लेकिन उसके भीतर कोई था, जो बैठा दिन-रात नीराजना के पत्र की प्रतीक्षा किया करता था। लेकिन कुछ नहीं आया। अब अचानक तार आया तो वह बुरी तरह चौंक गया। हो क्या रहा है उसे ? किसी के साथ आ रही है या अकेली ?—कहीं···? लेकिन इस 'कहीं' का उत्तर, खिड़की के सहारे बैठकर अन्धाधुंध सिगरेट फूंकने, करवट बदलने—किसी से नहीं मिला। हाँ, आसपास के रेलिंग और पहाड़ सरकते रहे।

देहरादून के प्लेटफ़ार्म पर खड़े होकर उसने अपने-आपको काफ़ी गम्भीर बना लिया था, जैसे उसे बिलकुल भी चिन्ता न हो। वह तो यों ही मटरगश्ती करने चला आया है। वह पुल के पास खड़ा होकर पूरी रेल को देखता रहा। अचानक जब 'इण्टर क्लास' के एक डिब्बे से, आंखों पर काला चश्मा और हाथ में पर्स लिये, गहरे पीले रंग की जार्जट की साड़ी में, इधर-उधर जैसे किसी को खोज रही हो, नीरा उतरी, तो उसकी इच्छा हुई, दौड़कर वहां पहुंच जाय—नीरा तुम आ गई! लेकिन तुम कितनी बदल गई हो···!

आगे नीरा और पीछे चमड़े का बक्स लादे कुली, दोनों चले तो उसने पीछे से आकर धीरे से कहा, "कहिए, आप आ गईं!"

नीरा चौंकी और एकदम उसकी ओर मुड़कर देखा—एक तरह खिल उठी—"अरे, प्रोफ़ेसर साहब, आप यहां आ गए!"

वह वैसे ही रहकर, बिना उधर अधिक झुकाव दिखाए प्लेटफ़ार्म से निकलते हुए बोला, "सोचा, तुम न जाने कहां-कहां भटकोगी, पहली ही बार आ रही हो न!"

उसके स्वर से जरा चौंककर नीरा ने उसके चेहरे की ओर देखा, मुंह से निकला, 'जी' और वह सहम गई। 'चेकर' को टिकट देकर पर्स बन्द करते हुए उसने पूछा, "आपको तार कब मिला?"

"सुबह!" मशीन की तरह उतार-चढ़ावहीन स्वर में उसने कहा। उसने इशारे से सन्दूक बस पर रखवा दिया, कुली को पैसे दे दिए।

"आपने आखिर यहां तक आने का कष्ट क्यों किया?" इस बार नीराजना ने थोड़ा मुस्कराकर चश्मे की बगल से देखा।

"यों ही, सोचा, बेकार भटकोगी ही तो न?" उसने अनुभव किया कि वह जरूरत से अधिक रूखा हो गया है। कुछ नम्र स्वर में उसने पूछा, "रास्ते में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई, क्या खाया-पिया?"

"हरिद्वार में नाश्ता तगड़ा लिया था।" वह बोली। बस के पास ही दोनों चहलक़दमी करते रहे।

"जगह तो बहुत सुन्दर है इधर की।" कुछ मौन रहने के बाद नीरा बोली।

"अच्छी लगी ?" चेहरे का भाव देखने के लिए उसने नीरा के मुंह की ओर देखा।

"बहुत !" फिर दोनों टहलते रहे। ऐसा लगा, जैसे बातचीत करने के विषय एकदम समाप्त हो गए हों।

"घर पर तो सब ठीक हैं न ?" फिर बात घिसटी, जैसे लाठी से कमर टूटा साँप फड़ककर सरकने की कोशिश करे।

"हाँ, सब ठीक ही है।" बड़े अनमने स्वर में एक निश्वास छोड़कर वह बोली। समझ वह भी गई कि इधर-उधर की सब बातें सिर्फ़ इसलिए हैं कि वह पूछना चाहता है—"कहो, तुम कैसे आईं ?"

रवि को स्वयं बड़ा आश्चर्य था कि वह बता क्यों नहीं रही है। अब बातचीत के प्रति उसकी ज़रा भी इच्छा नहीं थी, लेकिन एकदम चुप हो जाना भी बड़ा दम घोटने वाला था। एक-एक कर वह कुछ-न-कुछ बोलते रहना चाहता था, ताकि उसकी स्थिति का कुछ तो पता चले। वह बोला, "चाय पिओगी ? नाश्ते से क्या होता है ?"

"सुनते हैं, खाना खाने से पहाड़ों पर चक्कर आ जाते हैं ?" इस बार ज़रा झेंपकर वह मुस्कराई, जैसे कोई अपनी बेवकूफ़ी की बात बता रही हो।

"तो यह खाना थोड़े ही है !" उसने चाय के लिए कह दिया। दोनों टहलते रहे। चाय आई, तो बस में अपनी-अपनी सीटों पर बैठकर चाय पीने लगे। साथ में टोस्ट थे।

उसे बड़ा आश्चर्य था, इन्दौर की दबी-ढकी, सीधी-सादी लड़की एकदम इतनी 'फॉरवर्ड' कैसे हो गई ! सबसे अधिक ताज्जुब तो उसके इस तरह अकेले चले आने पर था। घर वालों ने क्या कहा होगा ! यदि यह भावना कि जब वह स्वयं बताना ही नहीं चाहती, तो मैं क्यों पूछूँ, उसे न रोकती, तो शायद वह उसे रेल से उतरने पीछे देता, यही प्रश्न

सबसे पहले पूछता। वह रह-रहकर विस्मय से नीरा को देखता, इसे नीरा ने भी लक्ष्य किया।

अपने-आपको एक रहस्यमय आवरण में रखने के एक विचित्र आनन्द से नीरा मन-ही-मन खुश थी। साथ ही वह यह भी अनुभव कर रही थी कि इनके भीतर उथल-पुथल मच रही होगी और ऊपर से कैसे शान्त हैं! टोस्ट खाना छोड़कर, कुटिलता से हँसकर उसने पूछा, "आप बार-बार मुझे क्या देख रहे हैं?"

"देख रहा हूँ, इलाहाबाद में तो पूरी 'फिल्म ऐक्ट्रेस' बन गई हो। बिलकुल चारों तरफ़ से मेम साहिबा लग रही हो—घरवाले नहीं कहते कुछ?" उसे प्रसन्नता हुई कि उसने घरवालों की बात शुरू की। अब शायद वह कुछ बताए। वह चाय पीता रहा।

अपनी चाय खत्म करके प्याला रखते हुए वह बोली, "हूँ, घरवाले! घरवालों को अपनी ही चिन्ता से फुरसत नहीं है।"

फिर दोनों चुप हो गए। चाय वाला ट्रे उठा ले गया।

देहरादून के बाज़ारों के बाद कोठी-बँगले अब पीछे छूटने लगे थे और सड़क के सामने ऊँचे-ऊँचे पहाड़ सीना ताने खड़े थे।

"त्रिवेन्द्रम् से कन्याकुमारी जाने वाली सड़क पर भी बिलकुल ऐसा लगता है, जैसे हम देहरादून पहुँच गए हों।" वह बोला।

"आप तो खूब घूमे हैं, मैंने ज़िन्दगी में पहाड़ ही हरिद्वार में देखे।" बाहर देखती हुई वह बोली। उसने एक दबी साँस छोड़ी।

एक गाँठ थी, जिसे कोई नहीं छूना चाहता था। हर बात पर ये अनुभव कर रहे थे, जैसे मुख्य विषय को ये टाल रहे हैं, पहले कौन बोले! आखिर रवि से नहीं रहा गया—पूछ ही लूँगा, तो कौन आफ़त आ जायगी! जब बस 'टोल-टैक्स' देने के बाद आगे बढ़ी, तो डिब्बे से सिगरेट निकालकर अत्यन्त व्यस्तता से, जैसे वह कोई निहायत ही महत्त्वहीन बात पूछ रहा है, उसे जलाते हुए पूछा, "मुझसे कोई खास काम था?" वह साँस रोककर दोनों हाथों की आड़ में जलती दियासलाई

की लौ को अपलक देखता रहा—खूब सचेत !

इस बार फिर नीरा ने गरदन घुमाकर घूरा। वह खुद भी उसी भाव से बाहर देखती हुई बोली, "क्या हर आदमी काम से ही आता है ? आप मसूरी रहें, कोई आदमी मसूरी घूमने आता है और आप मुझसे पूछते हैं, कोई खास काम था ?"

"लेकिन ये छुट्टियाँ तो नहीं हैं !" उसने सन्तोष की साँस ली, लेकिन मन-ही-मन उलझन और प्रश्न उछल-कूद मचा रहे थे।

"कॉलेज में हड़ताल है !" और वह बस की खिड़की पर रखी बाँह पर ठोड़ी रखकर बाहर देखने लगी, जैसे बाहर के दृश्यों में उसे इन बातों से अधिक आनन्द आ रहा हो।

नीरा का यह रुख उसे ज़रा भी पसन्द नहीं आया। वह चुप हो गया। सड़क मिनट-मिनट पर मोड़ लेती ऊपर चढ़ रही थी और 'जूँ-जूँ' करती बसें और कारें आगे-पीछे भाग रही थीं। कभी-कभी एकाध हार्न गूँज उठता था। हर पहाड़ के गले में ऊपर-नीचे सड़क के लच्छे पड़े दिखाई दे रह थे। बिलकुल सामने वाली सीट पर भूतनी के-से बिखरे बालों वाली एक लड़की साड़ी और आधे फुट खुली कमर दिखाती, चुस्त ब्लाउज़ पहने थी। उसकी बग़ल में एक अंग्रेज़ बुढ़िया थी। सब अपने-अपने में मस्त थे। सादा चश्मे पर हरे अटैचमैण्ट चढ़ाए पट्टीदार कुरता पहने एक सज्जन ज़रूर सबको नम्बर से निरख-परख रहे थे।

एक जगह मोटर घूमी तो नीरा के चेहरे पर धूप आ गई। उसने सिगरेट की राख खिड़की से बाहर फेंकने के बहाने झुककर देखा, चश्मे के पीछे उसकी आँखें बन्द थीं।

"रात को सोई नहीं थीं ?" उसने पूछा।

"नहीं, मुझे चक्कर आ रहे हैं।" बिना ज़रा भी हिले-डुले उसने कहा। वह अपना ध्यान सामने के पहाड़ों, सड़क और सफ़र से कहीं दूर ले जाकर उठती हुई उबकाई को रोकना चाहती थी, लेकिन जैसे उसकी पलकों के ऊपर उन्हीं पहाड़ों की छायाएँ मंडराने लगती थीं। रबर के

खिंचे धागे की तरह मन ज़रा भी छूटता, तो यहीं भाग आता।

अपनी जेब तलाश करने के पश्चात् उसने पूछा, "किसी से इलायची पूछूँ ?"

उसने हाथ के इशारे से रोक दिया, "नहीं।"

फिर दोनों चुप हो गए।

अचानक रवि ने कहा, "उठो !"

तन्द्रा से जैसे चौंककर उसने देखा—बस 'किक्रेप' पर आ खड़ी हुई थी। कुलियों और सवारियों के वार्तालाप से वातावरण गूंज रहा था। एक तरफ़ ऊँचे पहाड़ और दूसरी तरफ़ ढालू सड़क। वह उतरी तो धरती डगमगाती लग रही थी।

कुली को सामान सौंपकर, रास्ता बताकर वे चले। आश्चर्य से आँखें फाड़े वह कभी ऊपर-नीचे जाने वाली सड़क को देखती, कभी कुलियों को और कभी उस बस स्टैण्ड को। लोग आगे-आगे चल दिए थे।

'केमिल्स बैक रोड' जाने के लिए सड़क काफ़ी चढ़ाईदार थी। ज़रा-सी देर में ही वह हांफने लगी। उसके लिए कभी-कभी वह रुक जाता। इधर-उधर देखती वह चढ़ती रही। सुस्ताने के लिए एक जगह रुककर नीचे भीड़ को देखते हुए नीरा ने कहा, "मुझे ऐसा लगता है, आपको मेरा आना अच्छा नहीं लगा !"

इच्छा हुई कि इस बात का जवाब ही न दे, क्योंकि अब अपनी ओर से बोलने या बात निकालने के सारे प्रयत्न उसने छोड़ दिए थे। थोड़ी देर चुप रहकर वह बोला, "ऐसी तो बात नहीं है। शायद थक ज्यादा गई हो, आओ अच्छी तरह बैठ लें।"

रास्ते-भर भयंकर चुप्पी।

बँगले पर आकर कैप्टन साहब से रवि ने उसका परिचय कराया तो उन्होंने अपना चश्मा उतारकर काफ़ी गौर से देखा। नीरा थक ज़रूर गई थी, लेकिन नाश्ता करते ही उसकी सारी थकावट दूर हो गई।

साढ़े चार बजे थे, दोनों घूमने निकल आए। हर नई जगह और चीज़ को देखकर रवि की ओर वह इस तरह देखती, जैसे उस स्थान या चीज़ का नाम पूछना चाहती हो; लेकिन उसके चुप, गम्भीर और जड़ चेहरे को देखकर सहम जाती।

लाइब्रेरी से दोनों 'चलिविली' होटल वाली सड़क पर आ गए। यह सड़क बिलकुल समतल, चिकनी और पहाड़ से लगी-लगी उसके साथ मोड़ लेती इस तरह चली गई थी, जैसे बाद में चिपका दी हो। एक बड़ा मोड़ पहाड़ के कटाव के साथ भीतर की ओर लेकर, सड़क फिर ज़रा सामने घाटी में आ गई थी और अब यह सड़क इतनी मुड़ चुकी थी कि एक बड़े लम्बे-चौड़े गड्ढे के बाद बिलकुल सामने ही लाइब्रेरी दिखाई दे रही थी। यह गड्ढा पहाड़ की उस दरार से ही शुरू हुआ था, जहाँ से वे अभी आ रहे थे, और बाईं ओर खुलता-खुलता बिलकुल खुल गया था। सामने ऊँची-ऊँची पहाड़ों की चोटियाँ दिखाई दे रही थीं—एक के पीछे से एक झाँकती।

पहाड़ की ओट के कारण धूप इन पर ज़रा भी नहीं थी। सामने दूर चोटियों पर सुनहली धूप खेल रही थी। दो चोटियाँ बिलकुल पास-पास काफ़ी ऊँची खड़ी थीं। सड़क के मोड़ पर गड्ढे की ओर रखी बैंच पर बैठकर दोनों उन पहाड़ों को देखने लगे। वे पहाड़ बहुत पास होते हुए भी बड़े विरोधी थे। एक बिलकुल सूखे झाड़-झंखाड़ों से लदा, सपाट, और दूसरा हरियाली से बुरी तरह लदा। खेलती हुई धूप पहाड़ की मरोड़ों में नहीं जा पाती थी, इसलिए वहाँ छाया थी। ऐसा लगता था, दो मखमल के कपड़े पास-पास डाल दिये गए हों। और जहाँ-जहाँ मोड़ हैं, वहाँ उनके भीतर से निकलने वाली गहरी हरी चमक निकल आई हैं। हाथ में चश्मा लिये नीरा उसकी कमानी पकड़कर घुमाती रही।

दोनों मुग्ध देखते रहे, लेकिन दोनों एक-दूसरे की हरकत से सचेत।

"आप बहुत बदल गए हैं, प्रोफ़ेसर साहब!" नीरा बोली और बैंच

की बाँह पर धीरे-धीरे थपकी मारती रही। उसकी खुली आँखों में पानी छलछला आया था। मन में शायद कहने के लिए बहुत सी बातें उसके भीतर उमड़ रही थीं।

"अब प्रोफ़ेसर भी तो नहीं रहा।" जरा-सा उसके चेहरे की ओर देखा और संक्षिप्त-सा उत्तर देकर देखने में व्यस्त हो गया।

"सुनते हैं, यहाँ से सीधा इलाहाबाद तक का टिकट मिल जाता है। कल सुबह ही किसी को भेज दीजिए।" कुछ देर फिर चुप रहकर वह बोली।

"टिकट !" वह एकदम मुड़ा। नीरा ने चश्मा चढ़ा लिया था, लेकिन उसकी काँपती ठोड़ी, खिचे होंठ, और फड़कते नथुने किस चीज़ की भूमिका हैं, इसे वह खूब पहचानता था।

"मैंने बड़ी ग़लती की, जबरदस्ती यहाँ चली आई।" और वह सिसकने लगी। रूमाल निकालकर उसने अपनी आँखों पर चढ़ा लिया।

रवि को उस समय खुद महसूस हुआ कि उसका व्यवहार नीरा के प्रति बड़ा ही उपेक्षापूर्ण रहा है—बिलकुल स्टेशन से ही 'बस' में, बीच-बीच में उसने बोलने की कोशिश जरूर की है, लेकिन यह दिखाते हुए, जैसे कोई खास जरूरत न हो। यह ठीक है कि नीरा के पिछले व्यवहार ने उसके पखवारे की नींद, शान्ति और सन्तोष, सब खत्म कर दिए हैं, फिर भी उसे इतनी कमजोरी नहीं दिखानी चाहिए थी। आदमी को थोड़ा सहने और ऐक्टिंग करने की भी आदत हो। लेकिन घने बादलों और काले अँधेरे जैसी घुटती उदासी को वह क्या करे ?

"मसूरी तुम्हें पसन्द नहीं आई ?" उसने नीरा के कन्धे पर हाथ रखकर स्नेह से पूछा। "जी !" जैसे तड़पकर, नीरा ने रूमाल हटाकर लाल आँखों से उसे देखा—"ऐसी घुटन में कोई चीज़ पसन्द आ सकती है ! इसी से बचने के लिए मैं यहाँ आई, और यहाँ भी यही आफ़त ! आखिर आप लोगों ने सोचा क्या है ? सीधे-सीधे जहर क्यों नहीं दे देते ?"

चकित-सा उसकी ओर देखकर रवि बोला, "किस प्रसंग में ये सब बातें आप कह रही हैं ? आप लोगों में कौन-कौन आएगा ?"

"मुझे खूब मालूम है !" बिलकुल सामने स्थिर दृष्टि से देखते हुए नीरा ने कहा, "मुझसे आप नाराज़ इसलिए हैं कि मैंने आपके रुपये क्यों लौटा दिए ?"

प्रश्न फिर आत्म-सम्मान और अपमान का आ गया। अपने ऊपर चढ़ आती भावुकता पर अधिकार करके वह सँभलकर बैठ गया। इस 'पॉइण्ट' पर वह ज़रा भी नहीं झुकेगा। उसने दृढ़ स्वर में कहा, "नीरा, तुम मेरी मेहमान हो। ऐसी कोई बात मैं नहीं कहना चाहता कि तुम बुरा मानकर जाओ। लेकिन भाई, बात यह है कि कोई अपना अपमान सह लेता है, किसी से नहीं सहा जाता। वैसे कोई किसी पर ज़बरदस्ती तो कर ही नहीं सकता, तुम्हें रुपयों की ज़रूरत नहीं थी, तो मुझे क्यों ज़िद हो ?"

"बस अपनी तरफ़ से बात देख ली और दूसरा चाहे भाड़ में जाय।" नीरा ने तुनककर कहा, फिर थोड़ी देर चुप रहकर बोली, "ज़बरदस्ती की बात होती, तो मैं पहले क्यों लेती, यह आपने सोचा ? आपकी समझ में यह बात नहीं आई कि जब आपके रुपये लौटाए, तो कम-से-कम गले तक पानी आ गया होगा।"

"हम भी तो सुनें, कैसा गले तक पानी था और वह इतनी जल्दी उतर भी गया कि आपको सैर करने की सूझने लगी !"

व्यंग्य को समझकर नीरा चुप रही। पलकें उठाकर एक बार उसे देखा, फिर जैसे एकदम बाजे के खिंचे तारों पर घूंसा मारा हो, बोली, "मेरी सगाई हो गई है !"

"सगाई ?" एकदम बुरी तरह चौंककर रवि अपने स्थान से थोड़ा उचक गया। उसने बिलकुल नीरा के चेहरे को पास से देखा ही नहीं, मज़ाक ज़रा भी नहीं। वह यों ही बैठा, फिर पीछे पीठ टिका ली।

"बहुत रोई-धोई, चीखी-चिल्लाई, फिर जब कोई नहीं माना, तो

बात सबको बतानी पड़ी। लेकिन उसी ग़लती में रुपये लौटाने भी पड़े।"

वह बिलकुल चुप रहा, निश्चल! उसने यह भी नहीं पूछा कि सगाई कहाँ हुई है, कौन हैं, क्या करते हैं, तुम्हारी क्या राय है?

"और इस तरह इलाहाबाद में मेरी पढ़ाई बिलकुल ख़तम हो गई।" वह उसी भाव से कहती रही।

सामने की धूप पहाड़ों के पार खिसक गई थी और पहाड़ों की छायाएँ काली पड़ने लगीं। साँझ की परछाइयाँ लम्बी होते-होते क्षितिज में लीन होने लगी थीं, जहाँ अंधेरे का ज्वार हिलोरें ले रहा था।

"अब देहरादून आने का एक कारण यह भी है। आगे से मैं देहरादून में ही पढ़ूँगी। हालाँकि सुनते हैं, यहाँ लड़कियों का हॉस्टल नहीं है। और पूरी बातें अभी पता नहीं लगा पाई हूँ।" बिना उसकी ओर ज़रा भी ध्यान दिये वह कहती रही।

"हूँ!" जैसे किसी दूसरे लोक से उसके सूखे होंठों से निकला। उसकी आँखों की केन्द्रित चेतना जैसे फैल गई, दृष्टि में सूनापन हाहाकार कर उठा।

"मैंने अपना जो रास्ता चुना है, उसमें आने वाली किसी भी बाधा से मैं समझौता नहीं कर सकती।" पता नहीं नीराजना आज किस बहाव में बही जा रही थी।

"बड़ा अच्छा है!" बड़ी कठिनाई से उसने निर्विकार भाव से कहा। उसकी अपलक खुली आँखों में सामने की ऊबड़-खाबड़, अंधेरे से भरी घाटियों की परछाइयाँ उतर आई थीं। अंधेरा घना हो गया था।

इस बार नीरा ने एकदम उसकी ओर मुँह घुमाकर कहा, "फिर कभी इलाहाबाद जाने के लिए मैं यहाँ नहीं आई—समझे या और समझाऊँ! आपको क्या है, आप तो ज़रा-ज़रा-सी बातों पर नाराज़ हो जाते हैं! मुझसे भी तो पूछिए, मुझे कितना सहना पड़ा।"

उसी समय एकदम सारी बत्तियाँ जल उठीं और नीरा ने देखा रवि की आँसू-भरी आँखों में दीपमालाएँ झलमला उठीं।

किन्हीं रानी साहिबा को लादे एक शानदार रिक्शा पीछे से गुज़र गया, जिसे तीन कुली पीछे से धकेल रहे थे, दो आगे से खींच रहे थे।

लकड़हारा



लकड़हारा

"अम्मां, क्या होती है शादी ?"

"कुछ नहीं होती, तू सो जा चुपचाप ।"

"नहीं, अम्मां बताओ !"

"तू सो जा, भागवान । ऐसे ही शादी होती है जैसे तेरी मास्टरनी मासी की हो रही है ।"

रीता ने आँखें बन्द कर लीं और पास लेटी कान्ति ने जब उसे सोई समझकर थपकना धीरे-धीरे कम किया तो वह अचानक ही आँख खोलकर बोली, "अम्मां, राजा ने अपनी लड़की का शादी लकड़हारे से क्यों कर दी ?"

एक क्षण को थपकता हाथ रुक गया और उसने भौंहें तरेरकर रीता को देखा—"कम्बख्त लड़की, सोती नहीं है, प्राण खा रही है ।" पर फिर प्यार से समझाकर बोली, "बेटा, वह तकदीर को नहीं मानती

थी।" यह सोचकर कान्ति और भी झुँझला रही थी कि अब यह पूछेगी, तकदीर क्या होती है ?

तभी भागती-हाँफती सोमा ने आकर बड़ी मुश्किल से कहा—"भाभी, तुम यहाँ पड़ी सो रही हो, वहाँ भैया ने सारा आसमान सिर पर उठ लिया है। तुम्हारा नम्बर आ गया है कन्यादान का।"

"अब यह छोड़े भी !" कान्ति ने आंचल से उलझती रीता को विस्तर पर पटका और कभी इस सन्दूक को खोला, कभी उसे बन्द किया और तब झींकते हुए सारे कपड़े तितर-बितर करके एक नीले मखमल का डिब्बा निकालकर लपकती हुई बाहर चली—"ले, अब मर पड़ी-पड़ी, जब से कह रहे थे, हाँऽ तो।"

मांड़े के नीचे शोभा बनारसी साड़ी-दुपट्टों में खूब दबी-ढकी बैठी थी। पीछे से पकड़कर बैठी नाइन बार-बार उसके सिर का कपड़ा खींचकर घूंघट बना देती और वह न जाने कैसे उसे पीछे खिसका देती। नाइन की इस हरकत पर उसके चेहरे की झुँझलाहट साफ़ हो जाती। पीछे से दादी और अन्य बड़ी-बूढ़ियाँ खुसुर-पुसुर करतीं तो नाइन फिर घूंघट खींच देती। उसका हाथ अपने हाथ में लिये खूब फूलों की झालरों से लदा पूरा ताजमहल सिर पर बाँधे जसवन्त बैठा था। चमकती सुनहरी अचकन पर रोली-चावल गिर पड़े थे। सामने लटकती फूलों की मालाओं को उसने इधर-उधर कानों पर अटका लिया था। इन सब झाड़-झंखाड़ों में सिर्फ़ उसकी नाक ही चमक रही थी। दोनों ओर के पंडित आमने-सामने जमे बैठे थे और बीच में जलती आग में थोड़ी-थोड़ी देर बाद या तो चम्मच से घी या हवन-सामग्री डाल देते थे। शोभा की ओर वाले पंडित रामजीदास कभी-कभी जब मन्त्र भूल जाते तो ज़ोर से नाई के लड़के से कह उठते—"अरे सुम्मेरा, लकड़ी ला।" और वह आधा झुका सबसे बचता-सा लकड़ियाँ पास रख जाता। दोनों ओर के पण्डितों में अभी शास्त्रार्थ हो चुका था, और हारे हुए पण्डित रामजीदास बार-बार हवन-सामग्री में घी मसलते हुए डकरा उठते, "कैलाश बाबू,

बुलाओ बहू को भई, फिर फेरों का मुहूर्त निकट आ रहा है।"

कैलाश बाबू ऊपर लोहे के जाल पर लदकर झाँकती स्त्रियों को बार-बार क्रुद्ध दृष्टि उठाकर देखते। कान्ति पर उन्हें बहुत गुस्सा आ रहा था। ठीक वक्त पर न जाने कहाँ जाकर मर गई है। अपनी कोमती साडी की अगली पटलियों को चाल से धकेलती, कपड़े सँभालती, नाक तक घूंघट निकाले जब कान्ति पास आ गई तो कैलाश बाबू ने अपने दुपट्टे से उसके आँचल की गाँठ बांधते हुए दांत पीसकर कहा, "वक्त पर चली कहाँ जाती हो?" लेकिन उनकी बात पंडितजी के मंत्रोच्चार में खो गई। मखमली डिब्बा झटके से बटन दबाते ही खुल गया। सँभालकर रखा हुआ सोने का हार, नीली साटनी पृष्ठभूमि में जगमगा रहा था।

"लड़की तेज है, जसवन्त के सारे दिमाग ठिकाने लगा देगी। देख लो, घूंघट नहीं कर रही, बार-बार सरका देती है।" बरातियों में से एक सूक्ष्म-द्रष्टा युवक ने दूसरे के कन्धे पर अपनी बांह रखकर उसके कान के पास कहा।

"अबे, बी० ए० है, मास्टरनी है। कोई ऐसी-वैसी है। बड़े तीसमारखां बनते थे। अब बैठकर पढ़ाया करेगी बेटा को!" दूसरे ने आते ही जनवासे में घर के किसी बच्चे से लड़की के बारे में पूरी जानकारी ले ली थी, उसी आधार पर कुटिलता से हँसकर उसने कहा, "घर-भर के ऊपर रहती है।"

"अच्छा!" आश्चर्य दिखाकर पहला बोला, "ले, अब मरे बेटा जसवन्त।"

दोनों हंस पड़े। शेष सब भी मुस्कराए। शायद शोभा और जसवन्त ने भी उनकी बातें सुनीं, क्योंकि दोनों की निगाहें शील के नियंत्रण में मुस्कराती आपस में मिलती-मिलाती-सी उधर ही उठ गईं। जसवन्त ने आँखें भी निकालीं।

सफेद चादर पर घराती और बराती आमने-सामने बैठे थे। बराती लोग सामने पलंगों और मेजों पर सजाये हुए दहेज को देख रहे थे, या

निगाहें बचाकर घरातियों की स्त्रियों को घूरते हुए घर की स्थिति को भाँपने का प्रयत्न कर रहे थे। उनका ध्यान टूटता था उस समय, जब घर वालों की ओर से कोई चौड़े-चमकते थाल में चाँदी के वर्क लगे पानों का ढेर या सिगरेट की तश्तरी बढ़ा देता, या अचानक आकर छाती पर इत्र की मालिश कर उठता। बरात के मुखिया मुंशी दयानाथजी और लड़के के पिता बाबू ब्रजनारायणजी अपने दो-एक प्रमुख आदमियों के साथ लड़की वालों के कुछ खास आदमियों के बीच बैठे, अपनी ओर से लाये गए कुछ डिब्बे-डिबियों को खोल-खोलकर सजाते हुए रख रहे थे और धीरे-धीरे किसी अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण विषय पर बातें भी करते जा रहे थे। मुंशी दयानाथ अर्थात् चाचा के हाथ में दहेज की लम्बी-चौड़ी लिस्ट थी, जिसके एक-एक आइटम को, पन्ने की चाँदी की अँगूठी वाली झुर्रियोंदार उँगली रखकर वे पढ़ते; फिर निगाह उठाकर उस वस्तु को नाक तक खिसके चश्मे में ऊपर से ग़ौर से देखते और तब सोचते-से दूसरी चीज़ की तरफ उँगली सरकाते।

शोभा को ऐसा लगा रहा था जैसे एक भँवर उसके दिमाग में लगातार चक्कर मारे जा रहा हो, घूमे जा रहा हो। उसके माथे पर पसीने की बूँदें झलक आई थीं। बाहर नेपथ्य में ऊपर की गोख से 'किड़-किड़ धम्' करके नगाड़ा और अपनी कर्णकटु आवाज़ में नफीरी बज रहे थे। नीचे खड़े ताशे वालों से शायद उनकी होड़ हो गई थी। कभी-कभी अवचेतन में बैण्ड की आवाज़ भी आ जाती थी। ऊपर स्त्रियाँ शोभा के अलबेले दूल्हे और बरातियों को लेकर गालियाँ तो नहीं गा रही थीं, लेकिन जो कुछ भी वे अपनी-अपनी अलग-अलग आवाज़ों में गा रही थीं, उसे सुन-सुनकर शोभा को बड़ी विरक्ति हो रही थी। यह कम्बख्त नाइन और उसे इस तरह भींचे बैठी है जैसे वह न जाने कहाँ भाग जायगी। सामने पंडितजी अपने बँधे-बँधाये स्वर में मंत्रों का वमन किये जा रहे थे। कितना शोरगुल, हल्ला-गुल्ला, जैसे कहीं चढ़ाई हो रही हो या कहीं बम गिर गया हो। उसकी तबियत जब बहुत घबरा जाती तो

मन यह करता, यह लदे हुए कपड़े-गहने सब फेंक-फाँककर ऊपर भाग जाय। कहाँ आ फँसी !

"लेकिन बाबू शंकरलालजी, यह तो सब आप अपनी लड़की के लिए दे रहे हैं, इसमें हमारे ऊपर क्या अहसान है ? क्यों पेशकार साहब, है न बात ?" बाबू ब्रजनारायण ने दहेज की लिस्ट पर दो-तीन बार उँगली ठोककर समर्थन के लिए पेशकार द्वारकाप्रसाद की ओर देखा।

"भई, यह बात तो ठीक है पर···" पेशकार इतने गम्भीर मामले में अपनी राय ज़रा गम्भीरतापूर्वक ही देना चाहते थे। वे ही दोनों पक्षों का सम्बन्ध कराने वाले थे, इसलिए भी उनकी स्थिति नाज़ुक थी।

"पर-वर क्या, बाबू द्वारकाप्रसादजी, आप साफ़ क्यों नहीं कहते ? मैंने क्या कहा था ?" ब्रजनारायणजी लट्ठे के चिकने चूड़ीदार पाजामे वाली टाँगों को एक तरफ मोड़कर बैठ गए और ज़ोर से जाँघ पर हाथ मारकर बोले। उनकी सुरमेदार आँखों की लाल डोरियों का फैलाव बढ़ गया।

"तो हुज़ूर, मैं अहसान कब कर रहा हूँ ? मेरी इतनी जुरंत कैसे हो सकती है ?" निहायत ही खुशामदी लहजे में शंकरलालजी ने एक सधी चाल फेंकी।

"इन बातों से काम नहीं चलेगा जनाब !" ब्रजनारायणजी ने बेमुरव्वती से पंजा हिलाकर कहा और परेशानी से पेशकार की ओर झुके—"पेशकार साहब, मैं इसीलिये कहता था कि बातें बिल्कुल साफ होनी चाहिये। इसी घपले की वजह से मैंने मुंसिफ तेजबहादुर की शादी लौटाई नहीं ? हालाँकि एक कार और नक़द दस हज़ार का इशारा उन्होंने दिया था। मुझे ऐसा मालूम होता···" उन्हें बहुत ज्यादा झुँझलाहट पेशकार पर इसलिए हो रही थी कि उनके इतने अहम मामले पर ज़रा भी ग़ौर न करके वह मज़े में ताली के गुच्छे में पड़ी दाँत कुरेदनी से मुंह फाड़-फाड़कर दाँत कुरेदे जा रहा था। कुछ भौंहें तान-कर, माथे पर बल डालकर, चेहरा गम्भीर बनाकर सुनता[तो लगता कि

हाँ, कुछ सुन रहा है।

फिर आखिर झुँझलाकर व्रजनारायणजी उठ ही खड़े हुए, और नाक से उतरती शराब के हल्की गंध वाले फुफकारे छोड़ते हुए पेशकार के कन्धे को छूकर बोले, "ज़रा पेशकार साहब, सुनिये इधर, आप भी थोड़ी तकलीफ कीजिये, मुंशी दयानाथजी !"

बाबू शंकरलालजी बौखलाए-से अपलक शून्य दृष्टि से निर्लक्ष्य कुछ सोचते हुए दोनों को जाते हुए देख रहे थे। उनका दिल धड़क उठा। फिर वे धीरे से खिसककर मुखियाजी के पास आ गए। सारे वातावरण में यह बात अनजान रूप से फैल गई कि कुछ बहुत ही महत्त्व-पूर्ण विषय पर बात अटक गई है। दोनों ओर के प्रमुख व्यक्ति न केवल बात की तह तक पहुँच जाने को उत्सुक होकर अपनी-अपनी नाकें उठाए वातावरण को सूंघ रहे थे, बल्कि मन-ही-मन अपने को अपमानित भी अनुभव करना उन्होंने शुरू कर दिया था कि उन जैसे ज़रूरी आदमी से सलाह नहीं ली जा रही है। बीच में चलते एक बड़े हुक्के की निगाली पर मुड़ी हुई उँगली लगाकर गूढ़ रहस्यमय दृष्टियों से वे इधर-उधर घूरते और कश खींचकर हुक्का अगले को दे देते।

"हम तो पहले ही जानते थे कि कुछ-न-कुछ गड़बड़ होगी ऐन मौके पर !" कन्हैयालाल पोस्टमास्टर ने स्थिति पर अपनी राय दी।

"अरे, होगी नहीं, अब देख लो हवाइयाँ उड़ रही हैं या नहीं !" दाऊदयाल हैडक्लर्क बोले।

पूरा पंजा फैलाकर वकील शिवसागर ने कहा, "भाई साहब, ये काम चार आदमियों की सलाह से होते हैं, यह नहीं कि बाला-ही-बाला सब-कुछ कर डाला और किसी को कानों-कान खबर नहीं।" असल में उनकी अपनी लड़की भी काफी उम्र की हो गई थी। उन्हें अफ़सोस यह था कि अगर उन्हें पहले पता लग जाता तो वे इस लड़के को कैसे भी नहीं जाने देते।

"अरे साहब, सलाह-मशविरे की तो आदत ही नहीं है हमारे

शंकरलाल में। अपने को न जाने कहाँ का अक्लमंद समझते हैं।" पोस्टमास्टर चिंता से बोले।

"अक्लमंद समझते हैं तो लो नतीजा, वह तो कहावत है न कि...."

दूर से इशारे से द्वारकाप्रसादजी ने शंकरलालजी को बुलाया। एक ने दूसरे को छूकर सन्देश शंकरलालजी तक पहुँचा दिया। घबराते हुए वे उठकर भीतर पहुँचे।

उन्हें देखते ही ब्रजनारायणजी बोले, "भाई शंकरलालजी, हमारे साथ तो बहुत ही जबर्दस्त धोखा किया गया।" उन्होंने अपनी दोनों तेज आँखें उनके चेहरे पर अड़ा दीं और अपनी बात जारी रखी—"और मैं तो साफ़ मुँह पर कहता हूँ कि अगर यह पेशकार साहब बीच में न होते तो मैं हरगिज़-हरगिज़ इस रिश्ते को मंज़ूर न करता। और पेशकार साहब से भी मुझे ऐसी उम्मीद नहीं थी कि हमारे और इनके इतने ख़ानदानी ताल्लुक़ात होते हुए भी यह हमें इस तरह...।" अगली बात कहना उन्होंने ज़रूरी नहीं समझा और एक गहरी साँस लेकर दोनों हाथ फैला दिए।

"सो तो ठीक है...सो तो ठीक है आपका...।" शंकरलालजी हकलाकर रह गए। उनकी निगाह धरती से उठ ही नहीं रही थी। उन्होंने बड़ी आजिज़ी से सबके चेहरों की ओर देखा।

"सो ही तो ठीक नहीं है।" एक-एक शब्द पर ज़ोर देकर ब्रजनारायणजी ने उसी बेबाक़ी से कहा—"अगर यही सब मालूम होता तो मैं यहाँ झख मारने आता ही क्यों?" आप पेशकार साहब से पूछ लीजिये, सिर्फ़ इनकी वजह से मैंने मुंसिफ़ तेजबहादुर की शादी छोड़ी या नहीं? कार और नक़द दस हज़ार तो वे अपने मुँह से कहते थे, लेकिन मैंने कहा चलो हटाओ, ख़ानदान अच्छा है। लेकिन अगर मुझे यह मालूम होता तो...." उन्होंने नाक से फुफकार छोड़ी।

तभी किशोर ने आकर कहा, "बाबूजी, पंडितजी कह रहे हैं कि आप लोग चलें तो फेरे शुरू हों, मुहूर्त निकला जा रहा है।"

"पहले यह मुहूर्त तो तय हो जाय !" ब्रजनारायणजी ने विद्रूप से सिर हिलाकर कहा।

शंकरलालजी एकदम हताश-से हो उठे, घिघियाकर बोले, "बाबू ब्रजनारायणजी, अपने बस तो मैंने कुछ कर उठा नहीं रखा, जो कुछ भी बन पड़ा है किया···"

"हम कब कह रहे हैं कि नहीं किया ? मगर मैं क्या करूं? लड़के को तो लड़की चाहिए, लेकिन बाप भी तो किसी उम्मीद पर इस दिन की राह देखता है ? और बरतन-कपड़ा, बरतन-कपड़ा यह आप जो घंटे-भर से रटे जा रहे हैं, इसका क्या मतलब ? आपने लड़की को पढ़ाने में खर्च किया या यह सब जो दिया होगा सो अपनी लड़की को दिया होगा, कुछ हमें आप दान तो दिये नहीं दे रहे !" बिफरकर ब्रजनारायणजी बोले—"बाबू शंकरलालजी, साफ़ बात सुन लो, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। मेरे लड़के को लडकियाँ बीस हैं। आप बखुशी लड़की को रखिए···।"

और शंकरलालजी के कानों को विश्वास नहीं हुआ, जैसे आसमान फट पड़ा। वे कुछ कहें तब तक पेशकार उन्हें बाँह पकड़कर उठाते हुए एक ओर ले गए, और दरवाज़े के पास ऊपर की चौखट को छू-छूकर कुछ बताते रहे।

जब तीसरी बार भेजे गए आदमी को भीतर से डाँटकर भगा दिया तो जैसे लोगों की उत्सुकता का बाँध टूट गया। एक बाहर जाता, दूसरा भीतर—पता नहीं क्या हो रहा है। सिर्फ़ लोग अनुमान-भर कर सकते थे। कभी ज़ोर-ज़ोर से भीतर बातें करने की आवाज़ें सुनाई देतीं। बारह बजे के फेरे थे और अब ढाई बज रहा था। लोग बार-बार जंभाई लेते, बैठकें बदलते, और इधर-उधर देखकर अपनी झुंझलाहट व्यक्त करते ऊँघ जाते। लोग दीवारों के सहारे उठंगे हुए थे। बच्चे वहीं फ़र्श पर ही फैल-फैलकर सो गए थे। ताशे, नफीरी और नगाड़े सब चुप हो चुके थे। दोनों पंडित बैठे-बैठे बार-बार मुंह फाड़ रहे थे। उनमें एक तो ज़रा-सी देर को उठकर अपनी धूम्रपान की तलब को शान्त करता पाँव

भी सीधे कर आया था। बड़ी-बूढ़ी और अधेड़ औरतों की किचपिच ऊपर चालू थी। बेटी के भाग्य को कोसती हुई माँ दो-तीन बार रो भी चुकी थी। शेष स्त्रियाँ अपने-अपने अनुभव में आई ऐसी ही घटनाओं को सकारण-सविस्तार एक-दूसरी को सुनाए जा रही थीं। बहू-बेटियाँ कोई गोदी के बच्चों का बहाना करके या कोई वैसे ही यह कहकर कि 'जब फेरे पड़ें तो हमें जगा लेना' इधर-उधर एक-दूसरी के ऊपर लदकर सो गई थीं।

बिलकुल अचल और निश्चल बैठे थे जसवंत और शोभा। एक-दूसरी की बात कम सुनती और दूसरी की बात ख़त्म हो जाने पर अपनी बात शुरू कर देने को उत्सुक स्त्रियों की किचर-पिचर उसके कानों में भन्ना रही थी। जो कुछ आँखों के आगे दिखाई देता था और जो नहीं दिखाई देता था, सब शोभा की समझ में आ रहा था। तीन-चार बार उसकी आँखों में पानी भी भर आया। और अपने हृदय के उद्वेग तथा उमड़ती रुलाई को उसने दाँत भींचकर, होंठ काटकर रोक लिया। पता नहीं क्या होने को है!

तभी भीतर का वार्तालाप एकदम कोलाहल के रूप में बदल गया, और कई आदमियों के रोके जाने पर भी बाबू ब्रजनारायण अपनी काली अचकन के फटने की चिंता न करके किवाड़ खोलकर चीख़ते बाहर झपटे, "भाड़ में ले जाइए अपना दहेज और चूल्हे में ले जाइए अपनी लड़की। यहाँ शादी नहीं होगी, नहीं होगी! मैं भी देखता हूँ कौन कुँवर आपकी लड़की को ब्याहने आता है? कमीने, ज़लील, बद्ज़ा···।"

उनके पीछे दोनों हाथों में अपनी गोल टोपी लिये गिड़गिड़ाते-रोते शंकरलालजी थे—"बाबूजी, मेरी पचपन साल की आबरू मिट्टी में मिल जायगी, बाबूजी आप जैसे कहेंगे मैं वह करूँगा। बात तो सुनिए, बात तो सुनिए बाबूजी, यह मेरी इज्जत आपके क़दमों में है—बाबूजी!"

एकदम जैसे भूचाल आ गया हो या कहीं ज्वालामुखी फट पड़ा हो।

सब उठ-उठकर खड़े हो गए। चारों तरफ़ चीख़-पुकार मच गई। बच्चों ने अचानक नींद टूटने की घबराहट से और स्त्रियों ने जान-बूझकर रोना-चीख़ना शुरू कर दिया। डाका पड़ने जैसा कुहराम था। जब तक लोग सँभलें तब तक ब्रजनारायण ने फिर गरजकर कहा, "चलिए साहिबान, आप लोग अभी उठकर स्टेशन चलिए। मुझे अपने लड़के की शादी यहाँ नहीं करनी।" उनके मुँह में झाग आ गए थे और लाल-लाल आँखें फैलकर माथे पर चढ़ गई थीं।

लोग भौंचक्के-से उनके चेहरे की ओर देखते रह गए। कुछ ब्रजनारायणजी को संभाल रहे थे—"बाबूजी, गुस्सा थूक दीजिए, गुस्ताख़ी माफ़ कीजिए।" औरतों के रोने का स्वर और भी तेज़ हो गया। ओंघते से जागे हुए लोग चकित और उत्सुक होकर देखते हुए समझने की कोशिश करने लगे।

अपनी बात का असर न देखकर, खूब गला फाड़कर हाथ-पांव इधर-उधर फेंककर ब्रजनारायणजी बोले, "आप लोग चल रहे हैं या नहीं? अच्छा आप लोग बैठिए, मैं जाता हूँ। अपने बाप से पैदा नहीं जो फिर इस देहली पर क़दम रखा तो!"

और एक बार उन्होंने फिर अपने को पकड़कर समझाते लोगों का चक्रव्यूह छिन्न-भिन्न कर दिया, और लपककर जसवन्त की बाँह पकड़ ली। उसे ज़बर्दस्ती झटके से उठाते हुए बोले, "चल बेटा, ऐसी तीन-सौ साठ लड़कियाँ तेरे पैरों पर न डालूँ तो मेरा नाम नहीं, अपनी तरह समझा है इन्होंने!"

बाँह से बार-बार झटके दे-देकर खींचते-उठाते जसवन्त के पिता को इस बार शोभा ने गरदन घुमाकर बड़ी करुण आँखों से देखा, फिर जसवन्त की ओर निगाह उठाई। मर्मभेदी याचना उसकी आँखों में डबडबा आई थी। जसवन्त पटरे से उठ नहीं रहा था। उसकी मुट्ठी में बन्द शोभा का हाथ काँप रहा था।

डकरा-डकराकर रोते हुए शंकरलालजी ने फिर आकर उनके पाँव

पकड़ लिए थे, "बाबूजी, मैं तो अपनी कन्या आपको दान कर चुका हूँ। अब इसे मारो या छोड़ो।"

बाबू ब्रजनारायण ने दहाड़कर जसवन्त से कहा, "उठता है या नहीं ?" गूँज से पूरे घर की दीवारें थर्रा उठीं।

पालथी मारकर बैठे हुए जसवन्त के दोनों पाँव खुल गए, और बाप द्वारा खींचा जाता हुआ वह झिझकता-सा पट्टे पर खड़ा हो गया। उसके हाथ बंद रहने से पसीजी हुई शोभा की मुट्ठी उसके हाथ से छूटकर थोड़ी देर ज्यों-की-त्यों रही। बाप ने उसकी कलाई खींचकर कहा, "चलो।"

जसवन्त ने पटरे के नीचे दूसरा कदम रखा...

और शोभा का गाँठ लगा हुआ दुपट्टा खिचकर नीचे आ रहा।...

सहसा पूरे वातावरण में एक बिजली-सी कौंध गई और शोभा डोर टूटी कमान की तरह एकदम सीधी तनकर खड़ी हो गई। हल्दी-तेल के पीले कपड़े, बंधी सुपारी इत्यादि तथा हरी चूड़ियों वाली कलाई की आवेश से कसी मुट्ठी में उसके पाँव की कामदार नई चप्पल चमक रही थी। उसने क्रोध से काँपती खूब ऊँची आवाज़ में पूरे दम से कहा, "आप लोग सब इस घर से सीधी तरह से निकल रहे हैं या जूते खाकर जायेंगे ? ख़बरदार जो इस मकान में आगे क़दम रखा ! जाइये, मैं कहती हूँ फ़ौरन निकल जाइये।" उत्तेजना से काँपती फिर वह शंकरलालजी के पास आकर बोली, "बाबूजी, क्यों ज़लील कर रहे हो अपने-आपको इन स्वार्थी लोगों के सामने ! मैं कुत्ते-बिल्ली किसी से भी शादी कर लूंगी, लेकिन इन जानवरों पर थूकूंगी नहीं। मैं किसी भी गँवार का हाथ पकड़ लूंगी, लेकिन इन राक्षसों को घर से निकालिये। मैं उसे खुद पढ़ा लूंगी।"

और उसने हवन के लिए लकड़ी हाथों में लिये भौंचक इस तमाशे को देखते सुम्मेरा की कलाई पकड़कर जसवन्त के खाली पट्टे की ओर खींचा।



त्याग और मुस्कान

351 — ⑦—



त्याग और मुस्कान

अपनी इस ज़रा-सी झक पर सचमुच मुझे कभी-कभी इतनी झुंझलाहट आ जाती है कि उस समय मन होता है, बस, क्या न कर डालूं ! आज तक का एक भी तो उदाहरण नहीं है, जब मुझे अपनी इस झक की वजह से विभिन्न तरह के कष्ट न उठाने पड़े हों।

मज़े में फर्स्ट क्लास में जा सकता था। लम्बा सफ़र है, शादियों के दिन हैं, गाड़ी भी ऐसी फ्रण्टियर नहीं है। फिर भी, सब-कुछ जानते हुए भी, देखिए मेरी झक कि साधारण जनता के प्रति ऐसी सहानुभूति उमड़ी कि जा बैठा थर्ड में ! जगह मिले तो थर्ड में बैठना भी बुरा नहीं, लेकिन जब गाड़ी इस बुरी तरह ठसाठस भरी हो, तो ज़बर्दस्ती, चार आदमियों से लड़ाई मोल लेकर, ठूस-ठांस करके डेढ़ सीटवाले नौकरों के उस खाने में घुसकर बैठने की क्या तुक ? जिस खाने में एक-दूसरे को कष्ट देकर भी सात-आठ आदमी बड़ी मुश्किल

से बैठ सकते हों, उसमें भरे थे करीब पच्चीस आदमी। एक-दूसरे के पसीने की बदबू से उबकाई-सी आ रही थी, गला सूख रहा था, दम घुट रहा था। दूसरों के दबाव में पिसता शरीर एक ही स्थिति में रहने के कारण झनझना रहा था, लेकिन कोई चारा नहीं था। आखिर पहुँचना तो सभी को है। सब एक-दूसरे पर झल्ला रहे थे—कम्बख्त इतना सामान लेकर चलते हैं, दूसरे के ऊपर चढ़े बैठते हैं, अपने बल पर सधने की तमीज़ नहीं।

यह तो कहिए कि दो-चार स्टेशनों बाद ही मुझे वह छोटी-सी सीट मिल गई, जो किवाड़ खुलने पर उसके पीछे आ जाती थी और वह पूरे डिब्बे से कटकर एक अलग ही राज्य बन जाता था। इसमें आराम यह था कि स्टेशन पर जहाँ भी भीड़ चढ़ती-उतरती थी, किवाड़, खुलते ही, मेरी सीट के आगे आ जाता था और मैं पूर्ण सुरक्षित, तटस्थ दर्शक का आनन्द लेता था कि कैसे लोग एक-दूसरे पर चढ़ बैठते हैं; एक-दूसरे को कुचलते, न चढ़ने देने पर लड़ते हैं। मैं उस धक्का-मुक्की में नहीं था, फिर भी मुझे सबसे बड़ी तकलीफ यह थी कि धूप मेरी ओर की खिड़की से आने लगी थी और खिडकी चढ़ा लेने पर इतनी उमस और घुटन हो जाती थी कि साँस लेना मुश्किल। उस बन्द जगह से न तो बाहर जा सकता था, न भीतर आ सकता था। नीचे रखी डलिया में से निकाल-निकालकर सारे सन्तरे खा चुका, और प्यास बुझाने के लिए थर्मस की पूरी कॉफ़ी पी गया था। लेकिन भीड़ थी कि बढ़ती जा रही थी।...

जनता के प्रति सहानुभूति प्रगट करने के लिए जब आप इस तरह के त्याग करते हैं, तो थोड़ी तकलीफ़ तो उठानी ही पड़ती है। जनता के हृदय में उतरकर अपना महत्त्व मनवाना आसान काम नहीं है। इन बेचारे, गन्दे-फटे कपड़े पहने, अशिक्षित, पशु-जैसे लोगों को क्या मालूम कि उनके साथ कौन जा रहा है? पार्लियामेण्ट में मेरे एक-एक शब्द का क्या महत्त्व है, सारा देश जानता है। वहाँ के मुख्य मन्त्री

जानते हैं कि मैं न होता, तो वह चुनाव जीत नहीं सकते थे। मेरी तरफ़ घृणा और द्वेष से देखने वाले ये लोग बेचारे क्या जानें कि उनके साथ कौन सफ़र कर रहा है? चढ़ने वाले बड़ी तीखी नज़रों से ऊपर की सीट पर रखी मेरी अटैची को देखते और शायद यह सोचकर अपने को समझाते—कोई बाबू है शायद। उन बेचारों को नहीं मालूम कि मैं प्रसिद्ध नेता और एम० पी० हूँ और सिर्फ़ जनता की हालत देखने के लिए, उनके प्रति सहानुभूति से भरकर, इतना बड़ा त्याग करके यहाँ बैठा हूँ! किसी दूसरे ने इतनी छोटी-सी बात के लिए इतना बड़ा त्याग किया होता, तो मैं श्रद्धा से उसके सामने झुक गया होता। नौकरों को साथ लेकर भी तो आ सकता था, लेकिन नहीं नौकर साथ चलें, तो फिर त्याग क्या? सचमुच युग हो गए इस दरजे में बैठे जैसे बिल्कुल अपरिचित जगह में बैठा होऊँ। लेकिन भीड़, घुटन, गरमी कितनी है! इतनी तकलीफ़ तो जेल में भी नहीं मिली···घुटन होती थी, बदबू होती थी, मच्छर होते थे···और जब जेल की तरह-तरह की यातनाएँ मैंने काट दीं, तो फिर यह सब क्या है? मुश्किल से दो घण्टे, चार घण्टे और···कल इस समय मैं ग्राण्ड होटल में लंच ले रहा था और आज ठीक चौबीस घंटे बाद? सबसे पिछले हिस्से में यह डिब्बा है, इधर कम्बख्त कोई लेमन-बरफ़वाला भी तो नहीं आता और गाड़ी भी जैसे रुकने का नाम करती है, जहाँ ज़रा देर रुकती है, वहाँ चढ़ना-उतरना··· अपनी जगह बचाना इतना ज़रूरी लगता है कि मन मारकर बैठे रहना पड़ता है।

एक स्टेशन पर गाड़ी रुकी···अरे-रे-रे! कितने आदमी इसी डिब्बे की तरफ़ दौड़े आ रहे हैं···कम्बख्तों को और कहीं जगह ही नहीं मिलती···अरे, भाई! पीछे-आगे बहुत जगह है, यहाँ तो तिल भी रखने को जगह नहीं और ऊपर लदे चले आ रहे हैं···मैंने झपटकर खिड़की बन्द कर ली···भीतर और बाहरवालों में ज़ोर का संघर्ष हो रहा है। गार्ड सीटी दे चुका है··· पोटलियाँ, बक्से, सूप, चलनी, सब भीतर आ-

आकर गिर रहे हैं···इन जाहिल गाँव वालों की भी बड़ी भेड़-चाल है···एक आदमी किसी डिब्बे में घुसा, तो एक-दूसरे के ऊपर चढ़ेंगे, मरेंगे, लड़ेंगे, लेकिन अगर सब मिलाकर दो सौ भी हुए, तो घुसेंगे सब उसी डिब्बे में। और सामान कितना लेकर चलते हैं, जैसे घर पर कुछ छोड़ ही न आये हों···अरे, यहाँ तो दो आदमियों के भी चढ़ पाने की जगह नहीं है, यह बीस-पच्चीस कैसे चढ़ेंगे ?···धक्का-मुक्की, उठा-पटक कैसी कर रहे हैं ! अरे भाई, जब जगह नहीं है, तो अगली गाड़ी से आ जाना···लेकिन नहीं, चढ़ेंगे सब इसी में। अच्छा···गाड़ी चल दी, अब सब छूट जायेंगे, तो अगली से आयेंगे।···अरे, अरे, ···अरे, अरे रुकवाओ भाई ! जंजीर खींचो, यह औरत भी यहाँ इसी डिब्बे में मरेगी···आधी लटक गई है, बच्चा गिरा जा रहा है जनाने में नहीं जा सकती···जाहिल लोग···

गाड़ी दो-चार गज़ सरककर रुक गई है और आखिर ज़ोर लगाकर बाकी आदमी भी चढ़ गए···डिब्बे के दरवाज़े पर कैसे लटक गए हैं ! जिनके हाथ लोहे का डण्डा नहीं आ रहा, उन्होंने एक-दूसरे की कमर ही पकड़ रखी है···उफ़ ! कैसा खतरनाक है, जरा हाथ फिसल जाय··· अरे भाई, ज्यादा उधर मत झुको, अभी सिगनल आएगा, तो नारियल की तरह खोपड़ा फूट जायगा। मैं तो बाज़ आया भैया ऐसे त्याग से ! जैसे भी होगा, निकलकर अगले स्टेशन पर डिब्बा बदल ही लूंगा, यहाँ तो मेरी हत्या हो जायगी···

अचानक दरवाज़ा, जो मेरी रक्षा करता हुआ मेरे सामने अड़ा था, झटके से खुला और एक औरत जैसे धक्के में उसमें ठेल दी गई··· बच्चा उसका भीतर आ गया और वह आधी किवाड़ में फँस गई। मैंने दोनों हाथ लगाकर किवाड़ को वहीं रोक लिया। औरत ने फटे गले से कहा, "बाबू, बचाओ !" कैसी कातर याचना थी उसकी आँखों में ! ···मैं बाहर वालों की सारी ताकत का विरोध करता हुआ किवाड़ की सँद को और चौड़ा करने में लग गया। पाँव अड़ाकर जो ज़ोर

लगाया, तो उधर से कई चीखें एक साथ निकलीं, जैसे कई लोग, जो दबे खड़े थे, पिस गए हों···जो भी हो, औरत को तो निकालना ही है···

इसी बीच औरत को इधर-उधर से ठेल-ठालकर दो-तीन आदमी और मेरे उस सुरक्षित स्थान में घुस आए। शायद मौक़ा ही देख रहे थे। ऊपर की सीट पर बन्दर की तरह उछलकर उसका पति चढ़ गया था···उसने बच्चे को ऊपर खींच लिया, इस बार किवाड़ खोलने को जो मैंने आखिर ज़ोर लगाया, तो औरत भहराकर मेरे ही ऊपर आ गिरी—"बाबू !" और चूहेदानी के ढक्कन की तरह दरवाज़ा बन्द हो गया।

मेरे उस ज़रा-से चौकोर खोल में इस समय पाँच आदमी घुस आए थे। आधी बेहोश-सी औरत मेरी गोद में पड़ी थी···उठकर मैं खड़ा नहीं हो सकता था। ऊपर वाली सीट से सिर टकराता था, इधर-उधर नहीं सरक सकता था, चार-पाँच आदमियों के शरीर फँसे थे···नीचे नहीं उतर सकता था···सामने किवाड़ अड़ा था और गाड़ी दौड़ रही थी।

बड़ी विचित्र स्थिति थी। इस खींचतानी में मेरे माथे पर पसीना आ गया था, साँस फूल गई थी, साँसों की गरम-गरम लपटें नथुनों से टकरा रही थीं मेरे गले में अपनी दोनों बाँहें डाले मेरी गोद में वह औरत पड़ी थी।···इस बार मैंने उसे देखा, जवान औरत, साँवला रंग, गठा शरीर, लेकिन जैसे बिलकुल अचेत ···कपड़े अस्त-व्यस्त, बिखरे बाल मेरे कन्धों और छाती पर फैल गए थे···मेरा हृदय धड़क उठा। बड़ी डरी और सहमी कनखियों से मैंने इधर-उधर देखा, कोई देख तो नहीं रहा··· लेकिन किसी को शायद इतनी फ़ुरसत नहीं थी···शायद इतनी जगह और होश भी नहीं था कि मुड़कर देखता···ऊपर उसका बच्चा चीख-चीखकर रो रहा था···

एक बार फिर सिर झुकाकर देखा, तीखे नक्श, बीस-बाईस की उम्र, गन्दे कपड़े, औरत गाँव की थी। उसके गन्दे कपड़े मेरे सफ़ेद

खादी के कपड़ों की तुलना में शायद और भी गन्दे लगे··· कम्बख्त को आँचल भी तो ठीक करने का होश नहीं है···ज़रा भी शर्म नहीं लग रही, मेरी छाती पर यों पडी है···कोई देख ले तो ? इसे तो होश है नहीं, अब इसके कपड़े मैं कैसे ठीक करूँ, हाथ हिलाने को जगह हो, तब न···बेचारी को यहाँ तक आने में बड़ा संघर्ष करना पड़ा है··· अपनी पसलियों पर एक मांसल दबाव-सा अनुभव करते हुए मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था।

तभी बड़ी तकलीफ़ से जैसे उसके होंठ हिले—"बाबू, पानी !"

साफ़ है कि इस चढ़ने में उसकी खूब गत बनी है उसकी लुढ़कती गरदन को मैं बाँह का सहारा देकर रोके हुए था। सिर झुकाकर देखने में उसकी टूटी-टूटी साँस मेरे मुँह पर लगती थी। अगर ज़रा मैं झुककर···· छिः छिः ! वह बेचारी मर रही है, उसे अपना होश नहीं है और मैं क्या सोच रहा हूँ ?·· मैंने अपने को धिक्कारा···इस बार रेल की खड़खड़ाहट और कोलाहल में फिर सुना, "बाबू, पानी !"

इस बार उसने अपनी फटी-फटी, सफेद आँखें खोलकर कैसी याचना से देखा···उफ़ ! मैं कहाँ से पानी लाऊँ ? थर्मस की कॉफ़ी भी तो मैं पी चुका था···गाँव की औरत है, कॉफ़ी इसे क्या अच्छी लगेगी··· लेकिन कुछ तो सहारा होता ही···लड़-भिड़कर खिड़की से निकल भी जाऊँ तो फिर आ नहीं सकता। मैंने खिड़की के पास वाले आदमी से कहा, "पानी वाला दिखाई दे, तो बुलाना···"

सचमुच यह औरत होश में नहीं है। तभी तो पति के सामने, इतने लोगों के सामने यों पड़ी है और उस बेचारी को मालूम ही क्या होगा कि वह कैसे और कहाँ पड़ी है···उसके ढीले, शिथिल हाथ मेरे कन्धों पर इस तरह झूल रहे हैं, जैसे वह बड़े प्रेम से मेरे गले में बाँहें डालकर सोई हो और अब हाथ नीचे लटक आये हों···फिर बड़ी अस्फुट आवाज़ निकली, पहले से भी क्षीण—"पानी, बाबू !"

कहाँ से लाऊँ पानी···बेचारी ! उस एक क्षण को मुझे लगा, जैसे

हम लोग बातें बहुत बनाते हैं, काग़ज़ी घोड़े दौड़ाते हैं···अख़बारों, फाइलों और पार्लियामेण्ट की बहसों के हिसाब से तो इस समय थर्ड क्लास में फ़र्स्ट क्लास से भी कुछ अधिक ही सुविधाएं होंगी। लेकिन ज़रा हवाई जहाज़ से चलने वाले मंत्रीजी यहाँ आकर तो देखें···देखें जवान औरत किस तरह शर्म और हया छोड़कर यों पड़ी कराह रही है? कहीं कोई जगह नहीं है···कैसे पानी मिले, कोई बादल तो यहाँ आकर बरसेगा नहीं! इस बात की भी तो सम्भावना नहीं है कि लड़-भिड़कर पाखाने के नल से भी चुल्लू-भर पानी ले आया जा सके···

"बा···बू···पा···नी···"

स्टेशन पर गाड़ी रुकी। मैंने पास वाले से कहा, "भाई, ज़रा पानी देख दो, यह मर जायगी बेचारी!"

लेकिन कोई पानी वाला नहीं···होगा भी, तो इधर ही रह गया होगा, कहीं फ़र्स्ट-सेकण्ड के आस-पास, यहाँ इतनी दूर क्यों आने लगा··· गाड़ी फिर सरकी···

ये लोग काजल कितना अधिक लगाती हैं···नाक में शायद मोर-पंख की सींक है, गन्दी हो गई है···होंठ कैसे पपड़ा गए हैं···गला शायद सूखकर चटख गया है। कैसी निश्चिन्तता से पड़ी है, जैसे मैं ही··· कल इसी कन्धे पर मिन्नी, मृणाल के हाथ थे, और शायद ठीक इसी तरह मैं उसे कमर से साधे हुए था···आर्केस्ट्रा बज रहा था और जोड़े नाच रहे थे···जैसे सागर की लहरें समुद्र की गोदी में झूम रही हों···फूलों-भरी डाल वासन्ती हवा में झूम रही हो···मृणाल जूड़ा बड़े ही कलापूर्ण ढंग से सजाती है···जब-तब हवा की लहर से उधर जूही के फूलों की खुशबू आ जाती थी···

उफ़! लोगों के पसीने की कैसी बदबू है! पता नहीं, कब-कब नहाते हैं, और नहाते भी हैं या नहीं। उमस के मारे तो क़ै-सी हुई जा रही है। गरमी भी तो हद की पड़ रही है। लटके कैसे हैं लोग! ऐसी गरमी में, मैं तो मर जाने पर भी ऐसी भीड़-भाड़ में चलना पसन्द न करूं···



"बाबू · पानी···"

मेरी छाती पर रखे उस अपरिचित मुँह से वह आवाज़ ऐसे निकलती है, जैसे कोई मेरे दिल में ही बोल रहा हो···जैसे मेरा दिल ही बोल रहा हो···न जाने कब-कब का, किस-किस युग का प्यासा दिल···शायद परोपकार और एक सहज मानवीय सहानुभूति के दान का प्यासा··· उफ़ ! पानी दो, भाई, कोई कहीं से ! कोई सुनता भी नहीं है। कैसे हैं ये लोग हमारे यहाँ के ! एक औरत मर रही है, एक ग़ैरत मर रही है, यों दूसरे की छाती पर सिर रखकर, दूसरे के ऊपर बेशरमी से लदकर पड़ी है, लेकिन किसी में इतनी तमीज़ नहीं है कि किसी तरह एक गिलास पानी का प्रबन्ध कर लाए।···इस जगह कहीं अँग्रेज़ होते, तो एक औरत के सम्मान के लिए न जाने क्या कर डालते !···जो जाति अपने यहाँ की नारियों की इज्ज़त नहीं करती, वह कभी जीवित नहीं रह सकती।···रमन्ते तत्र देवता···बकवास ! लिखने को लिख दिया, रमन्ते तत्र देवता, और व्यवहार क्या किया औरतों के साथ ? उस मनु ने ही औरतों को किस कोटि में डाला ? लेकिन यह लोग बेचारे करें भी तो क्या ? उठकर खड़े होने की जगह हो, तो कुछ करें भी····खड़े होने की कोशिश करें भी तो कहाँ खड़े हों लेकिन पानी तो दो ही कोई···यह गाड़ी भी तो ससुरी कैसे धीरे-धीरे रेंग रही है। ऐसा लम्बा फर्लाङ्ग-भर का इंजन लगा है और चल कैसी मर-मरकर रही है ! खतरे की जंजीर तो लगा दी है, लेकिन ऐसे किसी मौके के लिए यह लोग टेलीफ़ोन नहीं लगा सकते ? शायद विदेशों में तो होता है। कहीं पढ़ा था···विदेशों की आज पढ़ी बात हमारे यहाँ कोई बीस साल बाद आ पाती है।···अब गाड़ी धीमी पड़ रही है। इस बार तो जो भी हो, पानी लाना ही है। ये लोग नहीं जायँगे, तो मैं ही जाऊंगा···मेरी सारी अटैची और डलिया का कचूमर निकाल दिया है अन्धों ने···

गाड़ी रुकी। मैंने पूछा—"कोई स्टेशन है ?"

बाहर से कोई बोला, जैसे कहीं दूर नेपथ्य में कोई बोल रहा हो—

"सिगल नहीं हुआ है।"

आग लगे ! यह और कोढ़ में खाज ! अब यह गाड़ी रानी इस तरह ठमकती हुई चलेगी···

इस वार अचानक औरत ने सिर उठाया और इस तरह ओ-ओ किया, जैसे कै कर देगी। लेकिन उसकी यह ओ-ओ एक अशक्त खांसी में बदल गई। गले की नसें फूलकर उभरीं, दो-तीन वार खांसी आई और थूक के छींटे मेरे गले पर आ पड़े। मैंने सारस की तरह गरदन ऊंची करके मुंह को बचाया। कौन जाने, किसी रोग के कीटाणु ही हों, सांस का कोई रोग हो···यह कमबख्त पड़ी भी तो किस तरह है कि मैं रूमाल भी जाकेट की जेब से नहीं निकाल सकता···मैंने बड़ी प्रार्थना और आग्रह से, ज़ोर से पुकारकर कहा—"भाई, ज़रा पानी हो तो दो, यह मर जायगी···"

"पानी तो कहीं दीख नहीं रहा। ककड़ीवाला ज़रूर है।" बाहर से आवाज़ आई।

"भई, ककड़ी ही लो, कुछ तो शान्ति मिलेगी।" जैसे-तैसे शरमी-बेशरमी की चिन्ता किये विना, एक हाथ से उसके ढीले शरीर को ऊपर उठाकर रूमाल निकाला, पैसे निकाले और लोगों के बीच में तुड़ती-मुड़ती एक ककड़ी मुझ तक आई। मैंने बांह पर उसके सिर को संभाले हुए ही उसके सिर को हिलाकर कहा—"पानी अभी आता है, लो ककड़ी खा लो, तब तक।"

उसने कोई जवाब नहीं दिया, निर्जीव की तरह सिर उसका यों ही हिलकर रह गया। मेरे मन में धक से कुछ लगा, कहीं मर तो नहीं गई ! इस वार मैंने हाथ उसके गालों पर रखा, नहीं···होश में नहीं है।

"लो, यह ककड़ी खा लो," मैंने विलकुल उसके कान में कहा। उसके होंठ ज़रा-से हिले।

मैंने ककड़ी तोड़कर उसका टुकड़ा उसके होंठों से लगा दिया। उसे थोड़ा गीलापन लगा, वह ककड़ी के टुकड़े को चूसने लगी।

किस तरह इसे गोद में लेकर मैं ककड़ी खिला रहा हूँ। वह ककड़ी चूस रही है और मुझे कितना संतोष हो रहा है। प्यास से मेरा खुद का भी गला चटखा जा रहा है। बार-बार हाथ फड़ककर रह जाते हैं कि ककड़ी का एक टुकड़ा मैं भी मुँह में डालकर चूसूँ। लेकिन सचमुच बात झूठ नहीं है, त्याग करने में, त्याग करके सेवा करने में कितना आत्मिक सुख मिलता है! यह कम त्याग है? मैं यहाँ जान-बूझकर इस काल-कोठरी में आ फँसा हूँ, प्यास, घुटन, गरमी से मर रहा हूँ, वह तो यह कहो, मेरी इच्छा-शक्ति इतनी बलवान है, वरना अब तक दूसरा कोई होता तो कब का बेहोश हो गया होता!...यह ऊपर बाप की गोद में बच्चा भी कैसा है, जब से बिना रुके रोये ही जा रहा है। लोग भी कैसी गम्भीरता से अपना समय नष्ट करते हुए लड़ रहे हैं, जैसे सचमुच ही कोई बहुत जरूरी काम कर रहे हों...जब मेरी चेतना थोड़ी बहिर्मुखी हो जाती है, तो यही सुनाई देता है, चलो, गाड़ी थोड़ी सरकी तो सही, ज़रा हवा लगेगी। इस स्टेशन पर पानी ज़रूर देखना है!...

अचानक मुझे अपनी खुली छाती पर कुछ गीला-गीला लगा। चौंककर देखा, खाली ककड़ी चूसने से उसे संतोष नहीं हो रहा था। अब वह ककड़ी का टुकड़ा दाँत से काट लेती थी, और दाँतों से पीसकर पानी चूस लेने के बाद उसे ऐसी तटस्थता से होंठों से नीचे गिर जाने देती थी, जैसे वह खिड़की के बाहर मुँह करके बैठी थूक रही हो। मैंने अपनी छाती पर पड़ी उसकी उगलन देखी, तो मेरा जी बुरी तरह मिचला उठा। एकदम मन हुआ कि झटका देकर जोर से फेंकूँ उधर! भाड़ में गया त्याग और चूल्हे में जाय अपनी आत्मा का आनन्द! किस भावुकता में पड़ा हूँ? उस वक्त मेरे मन में ऐसी शक्ति मचलने लगी कि लगा, मैं एक-एक आदमी को धक्का दे-देकर बाहर फेंक सकता हूँ! इस रेल की यह काठ की दीवारें, खिड़कियाँ, दरवाज़े, सब चूर-चूर कर सकता हूँ। मैंने जी कड़ा करके रूमाल से वह उगलन एक ओर झटककर फेंक दी। ठीक है, कभी जब सेवाग्राम में था, तो सभी-कुछ

उठाया था, लेकिन वह सबका नहीं था। दूसरे उस सबको इतने दिन हो गए हैं कि आदत नहीं रह गई है। मैंने उसे झिड़का, "क्या करती हो?"

गाड़ी धीमी पड़कर स्टेशन पर रुक गई। मैंने फिर कहा, "भाई, पानी देखना!"

"पानी वाला है तो सही, लेकिन बहुत पीछे है।"

लटके हुए आदमी चढ़ने-उतरने वालों से जैसे ही निश्चिन्त होते थे, प्लेटफार्म पर उतरकर अपनी शक्तियों को फिर समेटते थे, हाथ-पांव सीधे करते थे। उन्हीं में से कुछ सहानुभूति से बहुत पीछे कहीं पानी वाले को इस तरह देख रहे थे, जैसे दृष्टि से ही उसे खींच रहे हों।

"भाई साहब, जरा भागकर ले आइए!"

"कोई बरतन दीजिए," एक साहसी युवक बोला।

एक क्षण सोचकर मैंने फ़ौरन ऊपर बैठे उसके पति से कहा, "जरा थर्मस का ढक्कन तो दो!"

जैसे-तैसे ढक्कन दिया गया और वह व्यक्ति आगे की ओर भागा। मैंने संतोष की सांस ली, चलो, अब पानी आ जायगा तो कुछ शान्ति मिलेगी।

लेकिन गाड़ी अचानक ही सरकने लगी।···ओह, जहां जरूरत न हो, वहां तो दो-दो घण्टे डाले रखेंगे और यहां ज़रूरत है, तो एक सेकण्ड नहीं रुक सकते···देखा, भागता हुआ वह युवक अपनी जगह आ लटका, लेकिन अपनी पूरी बांह फैलाकर, लटकते हुए, थर्मस के ढक्कन को फैलाये था। गाड़ी सरक रही थी। पीछे-पीछे पानी वाला मोटे तार में लुटिया का गला फंसाये पानी भरे भाग रहा था। पानी ढक्कन से जरा-जरा रह जाता था। गाड़ी तेज होती जा रही थी।··· क्या इतने पास से पानी निकल जायगा? युवक चीख रहा था, "एक औरत बेहोश है भाई, पानी जरूर दे दो!" अचानक प्लेटफार्म खतम होने से पहले पानी वाले ने पूरे जोर से लपककर पानी ढक्कन में डाल

दिया। आधा फैलकर ढक्कन में आधा ही रह सका। चलो, कुछ तो सहारा हुआ। दर्जनों लोगों की ललचाई, भूखी आँखों से तैरता पानी मेरे पास तक आया। ओफ़, पानी! इस आधे घण्टे में ही यह कितना अलभ्य और अपरिचित बन गया था! जैसे किसी दूसरे लोक से लाया गया हो, जैसे लक्ष्मण के प्राण निकल जायँगे, यदि सूरज निकलने से पहले पानी को कोई हनुमान नहीं लाया।

मैंने खूब ज़ोर से कहा, "लो, पानी आ गया, पियो।"

वह मरी और निर्जीव पड़ी औरत जैसे एकदम सचेत होकर जाग पड़ी। उसने बौखलाकर दोनों हाथों से थर्मस के ढक्कन को ऐसे पकड़ लिया, जैसे वह कहीं भागा जा रहा हो। मैं ढक्कन को सँभाले रहा। बौखलाहट में वह उसे फैला देती। उसने अपने भूखे होंठ उस पर टेक दिये।

पानी शब्द सुनकर ऊपर वाला बच्चा और भी ज़ोर से चीखकर रोया।

ऊपर बैठे पति ने झुककर कहा, "पहले इसे दे!"

औरत के प्यासे, ललकते होंठ वहीं रुक गए। उसकी चमकती निगाह में एक क्षण को विकल्प आया और फिर वह बुझ गई और मशीन की पुतली की तरह ढक्कन लिये, उसके हाथ ऊपर उठ गए। ऊपर से ढक्कन पति ने ले लिया। बस, होंठों से ढक्कन हटाते हुए उसकी अधखुली आँखों वाली निगाह मेरी निगाह से मिली और एक अजब-सी मुस्कराहट की छाया उसके पपड़ाए होंठों पर फैलकर कोने में अटक गई। उफ़! संसार का कोई चित्रकार, कोई अभिनेता, कोई लेखक शायद उस मुस्कान को नहीं पकड़ सकता। मैं उस मुस्कान में डूब गया···।

और वह औरत फिर निढाल होकर मेरे ऊपर पड़ गई। उसके दोनों हाथ मेरी छाती पर लटक आए और बाल मेरी खुली गरदन में सुरसुरी करने लगे। मैंने पीछे काठ की दीवार से पीठ टिका ली।

हठात् मैं चौंक उठा, ऊपर से पानी टपका, बच्चे ने एकदम पूरा ढक्कन अपने मुँह पर औंधा कर लिया था, जितना मुँह भर गया, वह गया, बाकी नीचे फैल गया।

ऊपर की सीट की सँद से टपककर दो-चार बूँदें उस युवती की कनपटी पर गिरीं। अपनी खुली छाती पर सटी उसकी कनपटी के पास खुलती पलकों की बरौनियों से मैंने जाना कि उसने आँखें खोली हैं। बड़ी कठिनाई से नीचे देखा कि उसके होंठों पर वही मुस्कान तैर आई थी।

···शायद वह किसी को दिखाने के लिए नहीं थी, शायद उसे मालूम भी नहीं था कि कोई उसे देख रहा है। करुणा, वात्सल्य···पता नहीं क्या थी वह मुस्कान! धीरे-धीरे वह मुस्कान होंठों की एक बेजान हरकत में बदल गई, "पानी !···"



वड़ी कृपा है

वड़ी कृपा है

माधव को जैसे-तैसे एक पुस्तक लिखने का काम मिल गया, । उसके पीछे प्रयत्नों और धैर्य की कितनी लम्बी कड़ी थी, इसका जायज़ा न ही दिया जाय तो अच्छा है । बस, इतना ही काफ़ी है कि काम उसे मिल गया और वह भी पंद्रह दिन के वादे पर । पंद्रह दिन बाद पुस्तक प्रेस में चली जायगी । शीघ्र ही छपकर उसे किसी कोर्स में लगना था। अतः पैसे भी छपने पर ही मिलने का मामला तय हुआ । पुस्तक दो सौ पृष्ठ की थी । दो रुपये पृष्ठ की बात थी ।

माधव ने मन-ही-मन दो-चार दिन उस पुस्तक की तैयारी तथा मानसिक स्थिति को सुधारने के रखे और शेष दस दिन में बीस पृष्ठ प्रति दिन के हिसाब से लिख डालने का अनुमान लगाकर पुस्तक पूरी कर देने की लिखा-पढ़ी कर डाली । मेहनत ज़रा ज्यादा थी, लेकिन इतना कर्ज़ हो गया था कि उसे वह छोड़ना नहीं चाहता था ।

माधव लेखक है तो सही, लेकिन लिखना उसका पेशा बने—इसे उसने कभी नहीं सोचा था। कालिज का बहुत अच्छा विद्यार्थी होने के नाते तो मशहूर ही था, लिखने में इस प्रसिद्धि ने कुछ श्रद्धा और मिला दी थी। जब एम० ए० करके कालिज छोड़ा तो विभिन्न प्रार्थना-पत्रों, इंटरव्यू तथा अखबारों के वांटेड कालम टटोलने में जो समय और शक्ति का अपव्यय हुआ उसका तो हिसाब नहीं है, लेकिन इन पिछले दो साल में नकद छः सौ तिहत्तर रुपये साढ़े सात आने वह खर्च कर चुका था, और कहीं कोई भी काम नहीं बना था। इस बीच थोड़ा-बहुत अपने लिखने से ही खर्चा निकाल लेता था। उसके पिता ने जिंदगी-भर चाहे कुछ न किया हो, एक दर्जन बच्चों के अलावा, एक देखने में सुन्दर छोटा-सा मकान वह जरूर बनवा गए थे।

पिता जो मकान छोड़ गए थे, उसे आधा किराये पर उठाकर जैसे-तैसे काम चल रहा था। लेकिन दो साल का टैक्स छाती पर चढ़ गया था। उधर किरायेदार अपनी इच्छा और सुविधानुसार किराया देता था। माधव को काफ़ी दिन बाद यह काम मिल गया तो बिना आगा-पीछा सोचे उसे ले लिया। रात-भर वह दिमाग में उसे ही बुनता रहा। मेहनत की चिंता किये बिना वह उसे खत्म कर डालना चाहता था, ताकि पैसे मिलें और आफ़त टले। सुबह उसने घर वालों से कह दिया था कि कोई आये तो कह देना कि पता नहीं कहाँ गये हैं।

पहला अक्षर वह लिखने ही वाला था कि बाहर से आवाज़ आई—"माधवजी !" माधव चुप रहा। पहचान तो लिया। राशनिंग इंस्पेक्टर सक्सेना था। उसका माधव पर बड़ा अहसान था। चीनी, कपड़े, सभी का परमिट बिना किसी दिक्कत के उसकी वजह से मिलता रहा था। दो-तीन आवाज़ों पर ही बहन ने उससे कह दिया, "पता नहीं कहाँ चले गए हैं सुबह से ही।"

माधव ने जब बाहर सक्सेना को यह कहते सुना—'कह दीजिएगा, इंस्पेक्टर सक्सेना आये थे' तो संतोष की साँस ली। लेकिन फिर सोचा—

पता नहीं क्या ज़रूरी काम हो, लाओ दो मिनट बात ही कर ली जाय। वह फ़ौरन बैठक के किवाड़ खोलकर बाहर निकल आया। सक्सेना साइकिल पर चढ़ा हुआ चलने के लिए पैडिल ऊपर कर ही रहा था। माधव बोला, "कहो सक्सेना साहब, कैसे सुबह-ही-सुबह तकलीफ़ की ?"

"तुम यहाँ घुसे बैठे हो ! मुझसे तो कहा गया कि बाहर गये हो।"

माधव ने सफ़ाई दी, "नहीं भाई, उसे पता नहीं था।"

सक्सेना ने साइकिल दीवार से टिकाई और भीतर कुरसी पर आराम से आ बैठा। बोला, "कुछ ज़रूरी काम कर रहे थे क्या ?"

"हाँ, काम तो जरूरी ही था—शुरू करने ही वाला था। तुम बहुत सुबह निकल आए।"

"हाँ, सोचा, चलो जरा हो ही आएँ। आओ, ज़रा प्रोफ़ेसर शाह के पास तक चलें।" माधव द्वारा दिये गए सिगरेट को जलाते हुए वह बोला।

"क्यों ?" माधव ने पूछा।

"यार, तुम्हारी उनसे अच्छी जान-पहचान है। मेरी एक रिश्ते की बहन की कापियाँ उनके पास आई हैं। ज़रा उनसे कह दोगे तो कुछ हो जायगा। तुम जानते हो, लड़कियों का एक तो पढ़ना ही बड़ा मुश्किल होता है···"

उसके लेक्चर को रोककर माधव बोला, "लेकिन सक्सेना साहब, मेरी तो उनसे जान-पहचान भी इतनी नहीं है," माधव ने बड़े डरते-डरते कहा। कहीं यह न समझे कि बहाना बना दिया।

"अरे, चलो तो। जितनी जान-पहचान है वही काफ़ी है।" उसने लापरवाही से उठते हुए कहा।

माधव झिझकता-सा बोला, "मैं ज़रा लिखना···"

"अरे, लिख लेना। लिखना कहीं भागा थोड़े ही जाता है। बस, पन्द्रह-बीस मिनट का काम है।"

माधव जानता था कि यह काम नकद डेढ़ घण्टे का है। मन मारकर

उसके द्वारा किये गए अहसानों को कोसता हुआ उठा। बैठक बन्द करके दरवाज़े से निकला तो बहन बड़बड़ाई, "ऐसा ही था तो हमें क्यों झूठा बनाया ? अब आगे से मैं सबसे कहूँगी कि भीतर बैठे हैं।" उसे जैसे-तैसे समझाया।

दोनों प्रोफ़ेसर शाह के घर चल दिए।

वहाँ से जब वह लौटा तो पौने नौ बजे रहे थे।

चलते-चलते सक्सेना ने कहा था, "शाम को आऊँगा।"

इतनी देर में कितना काम कर लेता ! झुँझलाता हुआ माधव सिर झुकाए चला आ रहा था कि अचानक उसकी पीठ पर किसी ने हाथ मारा—"अरे लेखकजी, कुछ दीन-दुनिया का भी होश किया करो—यों चलोगे तो कोई इक्के-तांगे वाला मुफ्त जेल चला जायगा और हमें भी घाट तक घसीटोगे।"

मुड़कर देखा, नगर के प्रसिद्ध साहित्यकार 'रसज्ञजी' और माधव का एक सहपाठी था, जो कॉलिज में लेक्चरार हो गया था और नाम के आगे दस रुपये में खरीदी हुई होम्योपैथी की डिग्री लगाकर डॉक्टर के नाम से प्रसिद्ध था। वह खुद भी ऐसा ही पोज़ करता था जैसे साहित्य का डॉक्टर है।

चौंककर माधव ने सिर उठाया और मुंह पर प्रसन्नता का भाव लाकर कहा, "कहो डॉक्टर, किधर निकल पड़े ? और 'रसज्ञजी' भी हैं ! कहिए, किधर चल पड़े आप लोग ?"

"कहीं नहीं, तुम्हारी ही तरफ़ जा रहे थे। एक परेशानी आ खड़ी हुई," चिंतित स्वर में डॉक्टर बोला।

"क्या ?" माधव ने सोचा चलो यहीं बला टल जाय—"कहिए, मैं आपकी क्या सहायता कर सकता हूँ ?"

"अब क्या सारी बात यहीं बता दें ? ज़रा बैठने तो दो, फिर आराम से सलाह देना।"

"हाँ-हाँ, चलिए, उधर ही चल रहे हैं," मन-ही-मन इस बात का

अनुमान लगाकर कि ये लोग कितनी देर बैठेंगे, माधव बोला। फिर 'रसज्ञजी' से पूछा, "कहिए, 'रसज्ञजी', क्या हो रहा है ?"

"होना क्या है भाई ! इस गरमी में हम खुद ही बचे हुए हैं, यही क्या कम है!" 'रसज्ञजी' बाएँ होंठ से खिसियानी-सी हँसी हँसते हुए बोले।

बैठक में पहुँचे तो डॉक्टर ने निहायत ही बेतकल्लुफ़ी से कहा, "सुबह-ही-सुबह आये हैं, कुछ लस्सी वग़ैरा नहीं पिलाओगे ?"

इच्छा तो हुई कि मना कर दे। लेकिन 'रसज्ञजी' नगर के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं, पहली बार आये हैं—क्या सोचेंगे ! मरे मन से उत्साह प्रदर्शित करके उसने कहा, "हाँ-हाँ, अभी देखता हूँ।"

'रसज्ञजी' ने आकांक्षा-भरे स्वर में कहा, "क्यों कष्ट करते हो ? बैठो, हम तो अभी चले जायँगे।"

"नहीं जी, कोई बात नहीं है।" कहकर माधव भीतर घर में चला गया।

धरती पर खड़िया से लकीरें काढ़कर एक टाँग से उछलते हुए भाई से बोला, "जाओ, अन्नू, ज़रा दही ले आओ। मेरा नाम लेना। बरफ़ भी लेते आना।"

"हमें ही भेजते रहते हैं !"

"जाओ !" माधव ने घुड़का, "जल्दी लेकर आना।"

"पैसे !" नाक के स्वर में वह बोला।

"कह तो दिया हमारा नाम लेना। और हाँ, चार पान भी लेते आना।"

"पान वाला नहीं देता। कहता है उधार नहीं दूंगा।"

"दूसरे से ले आना।"

जैसे-तैसे भाई को ठेला तो माँ बड़बड़ाई, "यहाँ सब बच्चों के इम्तहान हैं। क्या बखेड़ा फैला रहा है !"

"कुछ नहीं, ज़रा-सी देर का काम है।" कहकर माधव कमरे में

चला गया।

"माधवजी, आपने हमारी वह कविता सुनी होगी, 'ज़िन्दगी बोझ है' ?" 'रसज्ञजी' उससे बोले।

"उसकी प्रशंसा तो बहुत सुनी है, लेकिन सुनने का अवसर नहीं मिला।"

"अरे वही तो एक कविता है जिसने तहलका मचा रखा है।" और फिर इस विषय पर एक लम्बा भाषण देकर कि किस कवि-सम्मेलन में उसने क्या हंगामा मचाया है, और किस प्रकार हर जगह उनके विशेष प्रतिपक्षियों के चेहरे फक कर दिए हैं, 'रसज्ञजी' ने उस दो सौ पंक्तियों की लम्बी कविता का सस्वर पाठ किया।

माधव आश्चर्य कर रहा था कि आखिर उस काम का क्या हुआ, जिसके लिए वे लोग इतने सुबह ही आये हैं।

इस साहित्य-चर्चा में लस्सी बन जाने की सूचना ने विघ्न डाला।

अत्यन्त ही तृप्त भाव से लस्सी पीकर, पान चबाते हुए 'रसज्ञजी' बोले, "आपने बेकार ही कष्ट किया।"

डॉक्टर बोला, " 'रसज्ञजी', आप भी किस तकल्लुफ़ में पड़ गए ! बैठा-बैठा लिखता रहता है, इसे क्या कष्ट करना है ! कष्ट तो हमें है, सुबह से शाम तक कुत्ते की तरह क्लास में भौंकते हैं। एक दिन बच्चू को भौंकना पड़े तो सारा साहित्य निकल जाय। यहाँ तो बैठ गए और उल्टा-सीधा लिख डाला।"

डॉक्टर की इन बेकार की बातों पर झुँझलाकर माधव ने दो-तीन बार मेज़ पर रखी घड़ी को देखा। इसे लक्ष्य करके 'रसज्ञजी' बोले, "हाँ, भाई डॉक्टर, बता दो। शायद यह कोई काम कर रहे थे। फिर चलें, अभी और जगह जाना है।"

"पहले सिगरेट दे।" और खुद बढ़कर मेज़ से सिगरेट उठाकर उसे देखते हुए बोला, "क्या घटिया सिगरेट पीता है ! मैं ऐसी-वैसी सिगरेट तो फेंक देता हूँ। आज तेरी वजह से मुँह खराब करना पड़ेगा।"

ग्रौर उसने सिगरेट जलाई।

"तुझे बंधे-बंधाए तीन सौ मिल जाते हैं न, सो बकबक कर रहा है। यहाँ तीस का भी डौल नहीं है," ग्राख़िर माधव ने संयत भाषा में कह ही डाला।

"वही घिसी-पिटी बातों पर उतर ग्राया न, ग्रच्छा, ग्रब सुनो। 'रसज्ञ-जी' एक पत्रिका निकाल रहे हैं।" फिर ज़रा पास मुंह करके धीरे से 'रसज्ञजी' के प्रतिपक्षी, नगर के दूसरे साहित्यिक दल का नाम लेकर कहा—

"ज़रा उन्हें देखना है, बहुत बहकने लगे हैं। वह मिट्टी पलीद करें कि पानी न मिले। उनकी एक भी रचना नहीं छापी जायगी। बस, तुम एक बढ़िया फड़कती-सी कहानी लिख दो, दो दिन में।"

"ग्राजकल तो मैंने एक ज़रूरी काम ले रखा है।"

"ग्ररे, दियासलाई दिखा उस काम को। यह काम ज़रूरी है। दो दिन में मिल जाय, वरना तुम्हारी भी डंडाडोली उठवा दी जायगी, समझे?"

"हाँ, माधवजी, कोई ऐसी कहानी दीजिए कि बस मज़ा ग्रा जाय। लोग समझें तो कि पत्रिका में कुछ वज़नदार चीज़ें हैं।" 'रसज्ञजी' ने नम्रता से कहा, "हम सभी लोगों को ग्रापसे बड़ी-बड़ी उम्मीदें हैं। ग्राप सचमुच कहानी के क्षेत्र में क्रांति कर रहे हैं।"

इस प्रशंसा से माधव की सारी झुंझलाहट उड़ गई। वह बड़े पसोपेश में पड़ गया। हाथ में काम है। कोई कहानी तैयार भी नहीं है, नहीं तो उसे ही दे देता। ग्रगर लिखता है तो दो-तीन दिन चले जायेंगे। फिर कुछ मिलने की भी उम्मीद नहीं है। मित्रों से लिया भी क्या जाय! सिर झुकाकर वह सोचने लगा।

तभी बैठक के दरवाज़े पर हैट हिलाते हुए, गरमी से लथपथ, मिस्टर ग्रग्रवाल ने प्रवेश किया। यह पहले कभी माधव के पड़ोसी थे और पत्रिकाग्रों व पुस्तकों को पढ़ने के बहाने संध्या को ग्रा जाया करते

थे। अब शहर के दूसरे सिरे पर चले गए थे। बीमा कम्पनी में नौकर थे। रोज़ दफ्तर जाना होता था।

जैसे इस मुसीबत से निस्तार के लिए माधव बोला, "आओ अग्रवाल, दफ़्तर जा रहे थे?"

"हाँ भाई, हमने सोचा चलो ज़रा बैठ लें। थोड़ी देर है, ग्यारह बजे पहुँचना है। अभी क्या बजा है? कुल सवा दस। अरे, अभी तो बहुत वक्त है। बड़ी गरमी है। ज़रा ठंडा पानी तो पिलाइए।" पंखे के ठीक नीचे बड़े आराम से कुरसी पर बैठकर अपने हैट से हवा करते हुए वह बोले।

"हाँ, तो फिर तैयार हो, माधवजी!" बिना कुछ बोलने का अवसर दिये 'रसज्ञजी' ने कहा, "अच्छा, अब हम लोग चलें। धूप तेज़ होती जा रही है।"

पानी लेने जाता हुआ माधव ठिठक गया। उसने वहीं से आवाज़ दी, "पानी दे जाना, अन्नू!"

"अरे साहब, हमसे ऐसी क्या नाराज़गी है! हमारे आते ही आप चल दिए। भाई माधवजी, परिचय तो हो जाता।" अग्रवाल बोले।

माधव ने परिचय कराया। अग्रवाल बोले, "तो साहब, हमारा भी भाग्य खुल जाय। सुना तो आपका नाम बहुत दिन से था। तेरह तारीख को शायद आप ही रेडियो से बोल रहे थे?"

'रसज्ञजी' ने सकुचाने का अभिनय करके, जैसे वह अत्यन्त ही तुच्छ बात हो, कहा, "उस दिन 'कवि के मुख से' में मेरा नंबर था। कौनसी सुनाऊँ? इस वक्त कोई याद भी तो नहीं है। तुम बताओ, डॉक्टर!"

"जो आप चाहें," अग्रवाल पानी का खाली गिलास लौटाता हुआ बोला।

थोड़ी देर गुनगुनाकर 'रसज्ञजी' एक कविता का पाठ करने लगे। माधव बुरी तरह ऊबकर बार-बार घड़ी की ओर देख रहा था। साढ़े दस बजे थे।

जब वे दोनों चले गए तो अग्रवाल ने कहा, "बड़े सुस्त हो—क्या बात है ?"

सुस्त हैं तुम्हारा सिर ! तुम टलो, महाराज ! लेकिन प्रकट में उनसे कहा, "यार, मेरी तो मुसीबत है । कहानी माँगने आये थे ।"

"तो दे दीजिए । इसमें सुस्त होने की क्या बात है ?"

"दे तो सब-कुछ दूं, लेकिन लिखूं कब ? दिन-भर, एक के बाद दूसरा आता रहता है । ज़रा भी लिखने का वक्त नहीं मिलता । देखो, पाँच-छः पत्र-पत्रिकाओं के ख़त आये रखे हैं ।" माधव ने तीन-चार पत्र दिखाए ।

"बेवकूफ़ तो आप खुद हैं । साफ़ क्यों नहीं कह देते कि इस वक्त मैं काम कर रहा हूँ ।"

"यार, कल ही शहर-भर में शोर मच जायगा कि माधव साहब तो अब बहुत बड़े आदमी हो गए हैं । उनके तो मिलने का समय निश्चित है, घर में बैठे रहते हैं और मना करवा देते हैं । एक हो तो मना करा दूं—आज कोई कलकत्ते से आ रहा है, कल दूसरा बम्बई से । वक्त भी खराब करो और पैसा भी फूंको । उधार लेते-लेते दम निकला जा रहा है । कोई कुछ सोचता ही नहीं । स्टेशन के पास घर होने से और भी परेशानी है । आखिर किस वक्त लिखूं ?"

माधव को लगा, वह रो पड़ेगा । कुछ देर रुककर उसने कहा, "लोग ज़रा नहीं सोचते कि इसे भी वक्त की ज़रूरत है । घरवाले अलग परेशान हैं ।"

"वह तो होंगे ही । एक हो तो लोग चुप भी रहें ।" अग्रवाल ने सहानुभूति से कहा ।

सारी बातें बना रहा है, लेकिन जायगा नहीं ! अब किस वक्त लिखूंगा ? फिर बोला, "और हर आदमी समझता है वह पहली बार जा रहा है ।"

"सब आपकी ग़लती है," अग्रवाल ने कहा । फिर जैसे अचानक

याद आ जाने पर घड़ी की ओर देखकर बोला, "अभी तो पाँच मिनट और हैं।" फिर थोड़ी देर ऊपर घूमते पंखे को देखता रहा।

"नौकरी कोई मिलती नहीं। तीन साल से परेशान हूँ।"

"अरे, नौकरी-चाकरी की आपको क्या चिन्ता है? वह तो हम जैसे आदमियों का काम है। भागे जा रहे हैं दफ़्तर—धूप-लू की चिन्ता किये विना। आपका तो ठाठ से पंखा चल रहा है। मजे से उलटा-सीधा लिखना। नाम का नाम हुआ और पैसे भी आये। यहाँ तेल निकल जाता है।"

"हम वाज़ आए ऐसे नाम से। जान आफ़त में कर दी यारों ने। कोई नहीं देता पैसे। पैसे के नाम हिन्दी की सेवा है।" माधव ने देखा ग्यारह वजने वाले हैं। उनके दिमाग़ में एक वात आई।

"अच्छा चलें, फिर मिलेंगे।" कहकर ज्यों ही अग्रवाल उठने लगा, उसने हाथ पकड़कर विठा लिया।

"वैठिए न, अभी क्या जल्दी है! ज़रा देर और वैठिए।"

"नहीं माधवजी, आजकल अफ़सर वड़ा सख्त आया हुआ है। दफ्तर का समय हो चुका है।"

"लीजिए, यह एक सिगरेट पीकर जाइएगा।" माधव ने एक सिगरेट खुद ली, एक उसे देकर विठा लिया।

"नौकरी की आपको ज़रूरत क्या है? ठाठ का मकान है। मज़े में किराया आता है," अग्रवाल वोला।

"यह तो सभी कहते हैं। लेकिन क्या मकान को ओढ़ूँ या विछाऊँ? यहाँ इतने आदमी हैं, पता नहीं आधे मकान में कैसे रहते हैं, किरायेदार ने किराया तीन महीने से नहीं दिया है। कोई यह नहीं सोचता कि आख़िर खाते-पीते कहाँ से हैं। कैसे काम चल रहा है, यह हम ही जानते हैं। डेढ़ सौ रुपये तो वच्चों की फ़ीस जाती है।"

वात अनसुनी करके उठते हुए अग्रवाल वोला, "अरे, आप मकान-मालिक हैं। आपको तो ऐसी वात कहनी ही नहीं चाहिए। अच्छा

देर हो रही है।"

"बैठिए न !" फिर हाथ पकड़कर बिठाते हुए माधव बोला, "पूरे मकान का मालिक मैं नहीं हूँ। इतनी बहनें हैं शादी होने के लिए, इतने भाई हैं पढ़ने को। अगर हिस्सा हो तो मेरे हाथ एक फुट दीवार भी न आए।"

"यह कहने की तो लोगों की आदत होती है। आप यहाँ के साहित्यकारों में सबसे रईस हैं। आज आप मुझे इतना रोक क्यों रहे हैं ? भाई, सरकारी नौकरी है, जवाब तलब हो जायगा।"

उसकी बेचैनी का मन-ही-मन आनन्द लेते हुए माधव लापरवाही से बोला, "गोली मारो साहित्यकारों को। यहाँ जिन्दगी चखचख में मुहाल हुई जा रही है।"

माधव कभी सिगरेट देकर, कभी यों ही अग्रवाल को रोकता रहा। जितना ही वह जाने की जल्दी मचाता, उतना ही उसे मन-ही-मन आनंद अनुभव होता। अब पता लग रहा है। आपकी तो सरकारी नौकरी है सो आप तो अपने वक्त में से एक क्षण नहीं दे सकेंगे, दूसरे का कोई वक्त ही नहीं।

माधव का इरादा था, दो घंटे कम-से-कम रोका जाय, लेकिन तभी आ गए कालिज के दो विद्यार्थी। बारह बज गए थे। अग्रवाल का चेहरा उतर गया था। अब पता चला दोस्ती करते हैं या दुश्मनी निभाते हैं। आज इतना दंड काफ़ी था।

"कालिज में दो घंटे लगातार खाली थे, सोचा आपके दर्शन ही कर आएँ," विद्यार्थी बोले।

"बड़ा अच्छा किया," मन-ही-मन खून का घूँट पीकर उसने कहा।

"यह बड़ी अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। इस बार कालिज मैगज़ीन में निकल रही है इनकी कहानी।"

"यह तो बड़ा अच्छा है," माधव को कहना पड़ा। वे नए विद्यार्थी आते ही अपनी सारस-सी गरदन, नई-नई चमकदार पत्रिकाओं में गड़ा

कर बैठ गए थे। सिर उठाकर बोले, "आपके पथ-प्रदर्शन में कुछ सीख जायँगे।"

"अरे साहब, हम क्या हैं ? यहाँ और भी बड़े-बड़े लोग हैं, उनसे मिलिए," माधव बोला।

वह लड़का बी० ए० का विद्यार्थी था। मुँह बिचकाकर बोला, " 'नन्दन' जी के पास गये थे हम लोग। एक रोज़ तो बड़ी अच्छी तरह मिले। दूसरे दिन अन्दर बैठे थे, फिर भी मना करवा दिया। ऐसों के पास क्या जायँ !"

दोनों विद्यार्थी माधव को जैसे बिलकुल भूलकर एक-एक पत्रिका हाथ में लेकर पढ़ने लगे। उसके पास आने वालों की यह नई आदत नहीं थी।

एक विद्यार्थी ने माधव की छपी हुई कहानी की ओर दूसरे का ध्यान खींचा और दूसरा एक वाक्य पढ़कर उसकी प्रशंसा करने लगा, "देख लो, कैसा स्वाभाविक चित्रण है ! वाह, ख़ूब लिखा है !"

अब थोड़ी देर में स्थिति यह हो गई कि एक विद्यार्थी उसकी कहानी को ज़ोर-ज़ोर से पढ़ता जाता था, दूसरा प्रशंसा कर रहा था, और लेखक महोदय भूखे बैठे धैर्यशील श्रोता का पार्ट अदा कर रहे थे।

बहन ने खाने के लिए बुलाया तो बुसा हुआ-सा मुँह बनाकर उनसे ज़रा देर के लिए क्षमा माँगकर वह भीतर आ गया। माँ ने कहा, "किसे-किसे बिठाए रखता है—न खाते समय चैन न सोते समय।"

"पता नहीं कहाँ से आ मरते हैं। मैं क्या करूँ ? एक काम था सो उसे कोई करने ही नहीं देता।"

माधव रोटी-दाल निगलकर जल्दी-जल्दी बाहर भागा।

बैठक में अब दो के स्थान पर तीन हो गए थे। एक सज्जन थे जो अपना उपन्यास पढ़ने के लिए दे गए थे। उसने जैसे-तैसे क्षमा माँगकर उन्हें विदा किया। हाँ, जब उन्होंने पानी माँगा था तो गुस्से में उसने पूरी सुराही और गिलास लाकर रख दिया। चलते-चलते एक विद्यार्थी

बोला था, "माधवजी, साहित्य में चलने वाली इस धांधली के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?"

"कैसी धांधली ?"

"यही कि लोग एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं, अख़बार वाले रचनाओं का जवाब नहीं देते।"

"सब चलता है," टालने के लिए उसने अन्यमनस्क स्वर में कहा। वह नहीं चाहता था कि वे लोग फिर आकर बैठ जायं या नया विषय शुरू कर दें, या किताब मांग बैठें।

सबके बाहर निकलते ही ज़ोर से बैठक बन्द करके जब वह ज़रा आराम करने खाट पर लेटा तो क्रोध के मारे सिर भन्ना रहा था। निश्चय किया, इस समय तो सोया जाय, रात को छः घंटे अवश्य ही लिखना है।

अचानक बैठक के किवाड़ किसी ने धड़धड़ाए। जागकर उसने अनसुना कर दिया, इस बार आवाज़ भी आई, "माधवजी !" उसकी इच्छा हुई कि चीख़ने दे। लेकिन किवाड़ों पर थपकी जारी रही तो उसे उठना पड़ा, खोला तो देखा चार सज्जन और एक महिला द्वार पर खड़े थे, पास में ढेर-सा सामान, अटैची-बिस्तर रखे थे। माधव ने ग़ौर से देखा—वह इनमें से एक को भी नहीं पहचानता था।

"आपने मुझे पहचाना नहीं शायद," चारों में से स्थूलकाय लीडरनुमा व्यक्ति ने आगे बढ़कर उसे ग़ौर से देखते हुए कहा, "हमारी-आपकी मुलाकात नागपुर में लेखकों की मीटिंग में हुई थी। मेरा नाम ब्रह्मस्वरूप है। यह बड़े अच्छे कहानीकार हैं, यह कवि हैं, यह पत्रकार और समाज-सेवक हैं, यह इनकी पत्नी हैं।"

माधव भौंचक्का-सा उन्हें देख रहा था। थोड़ी देर में उसे याद आया, घंटे-भर की मीटिंग में ब्रह्मस्वरूप से उसका परिचय हुआ था। वह एक पत्रिका के संपादक हैं, आगरा आने की उन्होंने इच्छा प्रकट की थी, तो इस बात की कल्पना किये बिना कि सचमुच यह आ भी सकते हैं, शिष्टता के नाते अपने यहां आने का उसने निमंत्रण दे डाला था।

"ओह, हाँ ! आइए। क्षमा कीजिएगा, मैं भूल गया था।" उसे कहना पड़ा। वे लोग एक-एक करके भीतर चले आए। माधव को ख़ुद ही उनकी अटैची इत्यादि उठाकर भीतर लानी पड़ी। बैठक में एक ओर ढेर लगा दिया।

"वह लड़की आपकी बहन थी शायद। बोली, भाई साहब सो रहे हैं। हमने कहा, हमारा नाम लो और जगा दो। बड़ा कष्ट दिया आपको।"

"कष्ट क्या ! आप लोग आराम से बैठिए न !" माधव ने मुस्करा-कर कहा।

"हाँ-हाँ, बिलकुल ठीक है," गरमी से हाँफते हुए वह बोले, "आपका मकान बड़ी सुन्दर जगह है, स्टेशन के बिलकुल पास। ज़रा भी दिक़्क़त नहीं हुई। मैं कहता था न वहाँ कोई तकलीफ़ नहीं होगी।"

दूसरे ने कहा, "बना भी बहुत सुन्दर है ! क्यों जी, भीतर भी काफ़ी बड़ा है न ?"

माधव कुढ़ रहा था और अपने मकान का नक्शा बता रहा था।

"तो आप यहाँ साहित्य-साधना करते हैं। भई, बड़ी लगन के आदमी हैं आप।" वह पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों को निगाह से टटोलकर बोले। फिर आराम से चारपाई पर दीवार का सहारा लेकर लेट गए।

"भाई, मैं तो रास्ते में इन्हें यही बताता आ रहा था कि साहित्य में किसी के नाम के आगे यदि कहानी-सम्राट् लगेगा तो वह तुम्हारे ही। बड़ी ताक़त है तुम्हारी लेखनी में। पाठकों के ऐसे-ऐसे ख़त आते हैं कि कहा नहीं जा सकता। कोई फोटो माँगता है, कोई पता।" ब्रह्मस्वरूप ने बताया।

झुँझलाहट और क्रोध के बावजूद माधव ऊपर से प्रसन्न और संकुचित हो उठा। वह चिंता के मारे मरा जा रहा था कि अब इन लोगों की ख़ातिर करनी पड़ेगी। ब्रह्मस्वरूप उसकी कहानियाँ बड़े चाव से मँगवाते और छापते थे, हालाँकि बार-बार अपनी स्थिति का रोना

होने पर भी उन्होंने कभी एक कहानी के दस रुपये से अधिक नहीं भेजे थे।

"देखो भाई, तकल्लुफ़ की ज़रा भी ज़रूरत नहीं है। हम तो बस यहाँ की प्रसिद्ध जगहें देखकर जल्दी-से-जल्दी चल देना चाहते हैं। बस, ज़रा ठण्डा पानी मँगा दीजिए और ज़रा नहाने-धोने का प्रवन्ध कर दीजिए, ताकि हम लोग चार-पाँच बजे तक निकल जायँ।"

"अच्छी बात है, मैं अभी आता हूँ।" कहकर माधव भीतर आ गया। वह आगरा में ऐतिहासिक इमारतें बनवाने वालों के बाप-दादाओं को कोस रहा था।

माँ भन्नाई बैठी थी, "किस-किसको बुला लेता है रोज़-रोज़! मैं साफ़ कहे देती हूँ, न तो मेरे यहाँ पूरी बरात के सोने की जगह है और न यहाँ कोई मन-भर रोटियाँ सेकने को बैठा है।"

जैसे-तैसे लड़-भिड़कर पाँच गिलास नींबू का शरबत बनवाकर जब वह बैठक में आया तो ब्रह्मस्वरूप बोले, "भई, इतने सब तकल्लुफ की क्या ज़रूरत थी? ठण्डा पानी काफ़ी था। चीनी शाम को दही वग़ैरा में डालने के काम आ जाती।"

"चीनी और आ जायगी," खिसियाना-सा माधव बोला।

"नहीं, मैंने एक बात कही।"

जब ब्रह्मस्वरूप नहाने के लिए चले गए तो माधव ने कवि महोदय से पूछा, "आप इनके पत्र में लिखते रहते होंगे?"

कहानी-लेखक बोले, "नहीं जी, हमारा सम्पादकजी से परिचय यहीं टूंडला में हुआ। हम प्लेटफार्म पर गाड़ी की राह देख रहे थे। वहीं इनसे भी परिचय हो गया। मैं बनारस का हूँ, यह जबलपुर के हैं और यह अहमदाबाद के।"

माधव ने तकदीर ठोंक ली, पूछा, "तो आप लोगों का पहले से कोई परिचय नहीं है?"

"जो भी है सो टूंडला में ही हुआ है। हम तो होटल में ठहरने

की सोच रहे थे। सम्पादकजी ने कहा, माधवजी का अपना घर है। बड़े अच्छे कहानी-लेखक हैं। और फिर तो वहाँ से यहाँ तक बस आपकी प्रशंसा ही करते आए हैं।"

जब वे लोग घूमने जाने लगे तो माधव ने क्षमा-याचना करते हुए कहा, "मैं तो चल नहीं सकता आपके साथ, मुझे एक ज़रूरी काम है।"

"ख़ैर, जैसी आपकी इच्छा। नई जगह है, आप साथ होते तो दिक्क़त नहीं होती। ख़ैर, एक गाइड पकड़ लेंगे।" फिर बोले, "हम लोग दस बजे तक लौट आएँगे। हमारा खाना रखवा दीजिएगा। किसी को तकलीफ़ देने की ज़रा भी ज़रूरत नहीं है। और तकल्लुफ़ मत कीजिएगा, वरना हमारी आत्मा को बड़ा कष्ट होगा। हम तो घर समझकर ही आये हैं।"

"नहीं-नहीं, कोई बात नहीं, घर ही है।" माधव बोला।

"हाँ, ज़रा एक बात का ध्यान रखिएगा—मैं खटाई-मिर्च नहीं खाता। और हाँ, बाद में मीठा मुँह करने की आदत है। एक छोटी-सी गुड़ की डली काफ़ी है। या एक काम कीजिए—दूध की मलाई में ज़रा सी चीनी मिला दीजियेगा, क्योंकि दूध के साथ मलाई की हमें किसी को भी आदत नहीं है।"

बहुत ख़ूब! देने के नाम पर कहानी के दस रुपये और मलाई, दूध-दही…तुम्हारा सिर!

और जब वे लोग बैठक से बाहर निकल गए तो माधव धम से कुरसी पर आ बैठा। सुबह का खुला हुआ कलम अभी तक वैसा ही पड़ा था।

कुत्ते



कुत्ते

हम लोग एकदम ठिठक गए।

उस पतले और संकीर्ण वाज़ार में वहुत से आदमियों का एक झुण्ड खड़ा था। इधर-उधर से आने-जाने वाले भी उसी झुण्ड में सम्मिलित हो जाते और एक-दूसरे के ऊपर चढ़े जाते हुए-से झांक-झांककर वे भीतर की ओर देख रहे थे। सब जैसे स्तब्ध-उत्सुक और भीत। स्वाभाविक जिज्ञासा हुई। पास पहुँचने पर पता चला कि बीच में कोई घटना हो गई है, जिसे घेरे हुए इतने लोग खड़े हैं। लोगों की भीड़ चीरकर कुछ पंजों पर उचककर झांका, तो कुछ क्षण को हम भी बँधे रह गए! बीच में कोई पन्द्रह-बीस गज़ का एक गोलाकार स्थान सड़क पर खुला छोड़कर लोग घिरे थे। इस गोले की आमने-सामने की सीमाएँ वाज़ार की दोनों ओर की दूकानों से बनती थीं। दोनों ओर दूकानों पर भी बहुत-से आदमी बैठे और खड़े तमाशा देख रहे थे।

इस गोले के बीच में गँवारू कपड़े पहने एक आदमी सिर झुकाए बैठा था और अपने झुके हुए सिर को दोनों हाथों से पकड़ रखा था। उस गोले में निगाह सबसे पहले चारों ओर फैले खून की ओर जाती थी। गाढ़ा-गाढ़ा लाल खून दो स्थानों पर ढेर-सा पड़ा था और अब धीरे-धीरे नालियों की ओर रेंगने लगा था। वह आदमी सिर झुकाए बैठा था। उसके मुँह से खून की एक पतली धार सड़क की पथरीली ज़मीन पर गिरकर काफ़ी स्थान ढक चुकी थी, और अब इठलाते साँप की तरह धीरे-धीरे एक ओर बह रही थी। झुका होने के कारण उसका चेहरा देखा नहीं जा सकता था—पता नहीं उसके कहाँ चोट लगी थी। हाँ, कभी-कभी वह खून थूक देता था। एक ओर एक मैली पुरानी-सी साइकिल खड़ी थी, उसके केरियर में दूध की बड़ी टंकी बँधी थी। इसी टंकी का ढक्कन इस आदमी के पास पड़ा था—सब स्तब्ध, उत्सुक, आतंकित !

'यहाँ अभी कोई दुर्घटना हो चुकी है।'

लोग एक-दूसरे से पूछ रहे थे और एक-दूसरे के ऊपर चढ़े-से चले आ रहे थे। उनके कन्धों पर बोझ डालते, ऊँट-सी गरदन बढ़ाकर फैली आँखों से स्थिति स्वयं देखने-समझने की चेष्टा करते थे। मैंने आगे वाले एक मनुष्य से पूछा—"क्या हुआ ?"

"पता नहीं, कुछ झगड़ा हो गया।" वह बोला और व्यस्तता से देखने लगा।

"किस-किसमें ? झगड़ा हो गया है, सो तो मुझे भी दीखा।"

"इन्हीं दोनों में हुआ है।" उसने उस व्यक्ति की ओर संकेत करके एक तरफ़ की ढाई फीट ऊँची दुकान पर बैठे दो आदमियों की ओर इशारा किया। उस ओर देखा—सबसे पहले चिकन की चिनी हुई चमकदार टोपी पर दृष्टि पड़ी और फिर कुरते-पाजामे पर। दूसरा सादा बनियान और पाजामा पहने था—मोटी कमानी का चश्मा लगाए हुए। दोनों बिलकुल निरपेक्ष तटस्थता से बैठे थे, जैसे कुछ हुआ ही नहीं

और तभी उस बीच वाले आदमी ने अपना सिर उठाकर दर्शकों से कहा, "आप लोग सब देखते हो मैंने क्या किया है! मैं यहीं मर जाऊँगा आज! ये बड़े आदमी हैं।" उसका सारा मुंह खून से सना था, इसलिए यह पता लगाना बड़ा मुश्किल था कि खून उसके नाक, आँख, मुंह—कहां से निकल रहा है। उसके गन्दे कपड़े स्थान-स्थान से फट भी गए थे।

अचानक एक खद्दरधारी सज्जन भीड़ में से कुछ आगे बढ़कर बोले, "वाह अच्छा मजाक बना रखा है कि चाहे जिसको लिया, पीट दिया। हम देखेंगे किसने मारा है! बाबा उठो।" उसने आदमी की कुहनी पकड़कर झुकते हुए कहा।

"हमने मारा है हमने, जाइए जो कुछ आपको करना हो कर लीजिए— हो सके तो फांसी पर चढ़वा दीजिये।" उन दोनों दुकान पर बैठने वाले आदमियों में से एक ने खूब गरजकर ऊंची आवाज़ में कहा। स्वर में तीखी चुनौती थी।

वे दुबले-पतले सज्जन भीड़ में चले गए। बात अभी तक समझ में नहीं आई थी कि मामला क्या है। हल्की आलोचना-प्रत्यालोचना अस्पष्ट भनभनाहट के रूप में चारों ओर फैल रही थी। कोई कह रहा था कि पैसों के ऊपर कुछ कहा-सुनी हो गई है, कोई कहता पुरानी बात है। जैसे किसी सिनेमा का कोई रोमांचक दृश्य एक स्थान पर रुक गया हो, कुछ-कुछ वैसी ही उत्सुकता चारों ओर व्याप्त थी। तभी दो-तीन सिपाहियों के साथ वे सज्जन फिर लौट आये। सिपाही भीड़ को हटाकर भीतर गोले में आ गए। घटना को शीघ्र-से-शीघ्र समझने का प्रयत्न करते वे भीड़ को धकेलते हुए बोले, "जाइए साहब! आप लोग जाइए, क्यों यहाँ भीड़-भाड़ बढ़ाते हैं बेकार?" लोग पीछे हट गए, लेकिन गया कोई नहीं। कई आवाजें भीड़ में से उठीं। सिपाहियों ने भी कहा, "इसे ले चलो, 'रपोट' होगी।" एक सिपाही तांगा लेने गया, दूसरा उस घायल आदमी के पास खड़ा रहा और तीसरा सामने

वाली दुकान में लाला से घटना समझने की कोशिश कर रहा था। बार-बार वह उस आदमी को देखता, उन दोनों दुकान वालों की ओर देखता। लाठियाँ उन तीनों के साथ थीं।

तांगा आ गया और भीड़ तितर-बितर हो गई—गोला टूट गया। कई आदमी उसे उठाकर ताँगे में रखने लगे।

"आप चलेंगे साहब!" एक सिपाही ने उन दोनों को लक्ष्य करके पूछा। उसके शब्दों में नम्रता और झिझक थी; कम-से-कम वह तेज़ी नहीं थी, जिससे उसने भीड़ को सम्बोधित किया था।

"अच्छा जी!" दर्प से उस बनियान वाले ने इस प्रकार कहा, जैसे सिपाही ने कोई घोर बेअदबी की बात कह दी हो, "आप ही रह गए हैं हमें ले चलने को!" सिपाही चुपचाप चला गया। लोगों को एक बार फिर चले जाने का आदेश देकर वह खद्दरधारी सज्जन और तीनों सिपाही उस घायल को ताँगे में रखकर थाने चले गए। पीछे एक आदमी उस साइकिल और दूध की टंकी को भी ले गया।

अब भीड़ इन दोनों की ओर सिमट आई। कई आदमियों ने उनकी ओर बढ़कर पूछा, "क्या हुआ ठाकुर साहब, यह क्या हो गया?"

"कुछ नहीं जी, कोई खास बात नहीं।" उपेक्षा और निश्चिंतता से चिकनधारी ने सिर हिलाकर कहा। उसकी मूँछें खूब भारी और ऊपर को ऐंठी हुई थीं, दूसरे की सफाचट। उसने कई बार अपने होंठ चबाए। वह फिर गरजकर बोला—"आप लोग खून को खराब मत कीजिए, दरोगाजी आकर देखेंगे।" और बनियान में बनी जेब से उसने कैंप्सटन की सिगरेट निकालकर खूब स्थिरता से जलाई। लोगों ने खून वाले स्थान छोड़ दिये थे।

भीड़ में से एक वृद्ध ने आगे बढ़कर सहज स्नेह के स्वर में पूछा—"कहो भई बल्लू, क्या हंगामा है यह? तुम्हारी यह आदत जाने कब जायगी।"

"चाचा, वह कहीं जा सकती है! वह तो ज़िन्दगी के साथ ही

जायगी।" दोनों एक ओर कुछ आदर की भावना से सरक गए, उन्हें बैठने का स्थान छोड़कर।

वृद्ध महाशय बैठ गए—"क्यों, ज्यादा मार-पीट दिया क्या ?"

"जाओ-जाओ भई ! तुम लोग क्यों घेरे खड़े हो ?" भीड़ की ओर देखकर ऊँचे स्वर में उन्होंने कहा। फिर जैसे वृद्ध के प्रश्न के उत्तर में बोले—"कुछ नहीं, यों ही ज़रा-सा खून निकल आया। चोट-फोट तो कुछ आई नहीं है, मेरी काठ की चट्टी एकाध पड़ी हो तो पड़ी हो, नहीं तो इसके दो-एक घूंसे पड़ गए हैं, बस।" कहकर उन्होंने अपने पास बैठे एक लड़के की ओर संकेत किया। पहलवान छाप बीड़ी के पहलवान की मुद्रा में अठारह-उन्नीस साल का वह लड़का भी चुपचाप बैठा अपनी आस्तीनें ऊपर उठा-उठाकर पुष्ट बांहों पर हाथ फिरा रहा था। उस लड़के से बोले—"अरे बाबा के पैर नहीं छुए—चलो।"

लड़के ने आगे बढ़कर उनके चरण छुए और उनके आशीर्वाद को शाबाशी की तरह ग्रहण करते हुए बोला—"पड़े कहां ! बस एक नाक पर पड़ा, एक जबड़े पर, तभी तो गिर पड़ा।"

"बात क्या हो गई ?" वृद्ध ने पूछा। मालूम हुआ कि ये रिटायर्ड तहसीलदार हैं।

"कुछ नहीं, साला गाली दे रहा था। एक तो दूध इतना पतला, फिर तीन लुटिया डालकर बोला—चार डाली हैं। मना किया तो गाली देने लगा, फिर भला यहाँ किस साले से कम हैं ! इन उल्लू के पट्ठों की ज़बानें तो ऐसी हो गई हैं कि जी चाहता है बाहर खींच लो।" सिगरेट पीते हुए वह बनियान वाला बोला।

"अरे भाई, इन सालों के पास पैसा है।" वृद्ध ने कहा। फिर जैसे गम्भीर रहस्योद्घाटन करते हुए बोले—"बल्लू, तुम समझते हो गरज़ हमारी ही है आजकल। दूध लेना हो तो सालों के सब नखरे सहो।"

"अरे, तब भी चाचा गाली तो कभी नहीं सुनी। फिर इन कमीनों के मुंह से ? तुम्हें तो याद होगा जब दादा जिन्दा थे, उस आदमी से

कहा-सुनी हो गई थी उनकी। गाली तक तो नौवत भी नहीं आई थी। हम चारों ने मार-मारकर बिछा दिया था ज़मीन पर। दूसरे दिन लड़ने को ललकारकर चला गया। पाँचों बाप-बेटों ने सिर घुटाए, लाठियों पर तेल मला और अपने-अपने कफ़न सिर पर बाँध लड़ने पहुँच गये थे। हम पाँच थे और वे सात-आठ। चार घंटे वह लाठी चली, वह लाठी चली कि छटी का दूध याद आ गया। चाचा, हल्ले हो गए थे शहर में। मेरी तो बाँह उतर गई थी, पर सबको भगा दिया।" और एक बार उन्होंने गर्व से साँस खींचकर भीड़ की ओर देखा, जो अब छँटने लगी थी। हम लोगों को काफ़ी आनन्द आ रहा था—खड़े सुनने लगे।

"भई, वह ज़माने ही और थे—तब जैसा खाने-पीने को कहाँ मिलता है अब! वह तो बातें ही और थीं।" वृद्ध अतीत में डूब गए।

"हाँ चाचा, हमारे ख़ानदान में ही देखो। हमेशा से तलवार और ढाल मुग़ल बादशाहों को सप्लाई करने का काम रहा है। मौत और ख़ून तो साँस-साँस में भरी थी। अब दो बूँदें ख़ून की देखीं और भीड़ इकट्ठी हो गई। अब जिस देहली पर तुम बैठे हुए हो, बादशाहों की इनाम दी हुई है। राजा बीरबल ख़ुद इस मकान में रहते थे पहले। इस शहर के ये तीन-चार बड़े-बड़े मुहल्ले सब हमारे ही पुरखों के नाम पर तो हैं। वाह साहब, क्या हिम्मत थी उनमें भी—क्या दिलेरी! हमारे ख़ानदानी राजा लालसिंह, महाराज मानसिंह के साथ काबुल फ़तह करने गये थे। वह मार-काट मचाई है वहाँ कि आज भी काबुल का बच्चा-बच्चा थर्राता है! अब भी छोटे बच्चे रोते हैं तो वहाँ की औरतें उन्हें चुप करती हैं—'चुप हो जा, चुप हो जा लूलू-मूनू आये।' और बच्चा चुप हो जाता है। यह 'लूलू-मूनू' लालसिंह-मानसिंह का ही बिगड़ा हुआ रूप है। हौवे की तरह से डरते हैं बच्चे। हमारे परबाबा की बात है—मगर के शिकार का ड्रेवड़ा शौक था उन्हें। पानी में कूदकर सिर्फ़ एक कटार से चाहे जैसे मगर को मारकर लाते थे। लंगोटी लगाई, एक

कटार ली, एक हल्दी-जैसी गाँठ थी उनके पास—न जाने क्या बूटी थी, एक सन्त महात्मा ने प्रसन्न होकर दी थी। उसकी खुशबू से ही मगर कोसों दूर भागता था। वे सीधे मगर के ऊपर कूदते थे।" फिर एक बड़ी गहरी साँस लेकर बोले, "अब सब बातें रह गई हैं चाचा! लोग कहानी समझते हैं, बस। अब ये नई पीढ़ी के हमारे ही लौंडे इन पर विश्वास नहीं करेंगे।"

"अरे तब भी वह खून का उबाल कहाँ जायगा? शेर चाहे जैसा भी मरा-गिरा हो, कुत्ता तो बन नहीं सकता।" वृद्ध ने जैसे प्रोत्साहन देते हुए कहा।

"खून की बात तो यह है चाचा, कि आजकल के इन नये लड़कों से तो हजार गुने अच्छे हैं। पानी इन लोगों को नसीब नहीं है, जितना हमने घी पिया है।" और स्वतः उनकी चौड़ी छाती फूल उठी। आँखों में सुरूर झूम आया। मूँछें होंठों पर लेटे अंग्रेजी अक्षर 'सी' की तरह तनकर ऐंठ गईं। चेहरा जैसे एक अद्भुत नशे में डूब उठा। हम लोगों की ओर देखकर ओजस्वी स्वर में बोले, "जयपुर का अजायबघर देखने गये। महाराणा प्रताप का जिरहबख्तर और तलवार टँगी थी। वहाँ का आदमी बोला, छुओ मत, दूर रहो, गिर पड़ेगा, बहुत भारी है। मुझे बड़ा बुरा लगा। लपककर वह लम्बी बीस सेरी तलवार यों उठा ली।" उन्होंने हाथ से तलवार की लम्बाई बताई और बड़ी आसानी से उसे उठाने का अभिनय किया, "फिर जनाब छः मन के उस जिरहबख्तर को पहनकर दो घण्टे वह तलवार चलाई कि देखने वाले दाँतों तले उँगली दबा गए। बोले—'वाह! तेरी माँ ने पिलाया है दूध।' फिर उन्होंने सामने खड़े लोगों की ओर मुँह घुमाया। गर्व-दीप्त उनके मुँह को प्रायः सभी ने प्रशंसा-मुग्ध नेत्रों से देखा। अब अधिकांश लोग जा चुके थे, केवल बीस-पच्चीस श्रोता खड़े रह गए थे। उस घटना के तीखेपन और पीछे पड़े खून को प्रायः सभी लोग भूल चुके थे। वहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। लोगों को अपने से आकृष्ट

श्रौर प्रभावित देखकर उन्होंने श्रौर भी श्रधिक प्रभावशाली ढंग से बताना शुरू किया। मैंने देखा, बातों में भौंह की चाल, मुख की भंगिमा, वाणी के उतार-चढ़ाव, हाथ श्रौर शरीर की सहायता से चित्र-सा खींच देने की उनमें श्रद्‌भुत शक्ति है।

"उन दिनों बाइस्कोप नया-नया निकला था (उनका तात्पर्य मूवी से था)। एक पुराना मुग़ल बादशाहों के ज़माने का खेल था। किले में तस्वीरें उतारने उनकी पूरी कम्पनी श्राई। हजारों श्रादमी देखने गये, हम भी पहुँचे। उस समय चढ़ती उमर थी, जवानी श्रंग-श्रंग में भरी थी। क्या पूछते हो हमारे जोश को, वह तनी हुई मूँछें, चढ़ी हुई श्राँखें, रौबीला चेहरा, सेब-से गाल, कुल्लेदार साफ़ा, खूब झकझकाती लम्बी कमीज़-सलवार, परों में सलीमशाही सुनहरी कामदार जोधपुरी जूती; क्या पूछते हो उस समय!" उन्होंने वास्तव में हाथों श्रौर मुँह की सहायता से एक ऐसे ही रौबीले जवान का चित्र खड़ा कर दिया, "हम भी एक तरफ़ खड़े देख रहे थे। तभी सिनेमा के मालिक ने पुकारा—'ए जवान, इधर श्राश्रो।' मैंने चौंककर इधर-उधर देखा, फिर जा पहुँचे पास। किसी का डर तो था ही नहीं। वह बोला, 'हम तुम्हें हीरो बनाएँगे, हीरो—बादशाह जहाँगीर का पार्ट तुम्हें दिया जायगा।' श्रौर सा'ब उन्होंने हमें श्रपनी कम्पनी में ले लिया। वह खातिर की कि क्या पूछना? हीरोइन थी एक यूरोपियन लेडी। श्रब उसकी सुन्दरता क्या बताऊँ—चमचमाता चाँद का-सा टुकड़ा, देखो तो देखते ही जाश्रो, काश्मीरी सेब-से गाल, भूरी-भूरी श्राँखें, नीली पुतलियाँ, सुनहरे बाल—रेशम-से मुलायम। पान खाती तो गले में पीक की लाइन-सी चली जाती, साफ़ देख लो। रुई के गाले-जैसी—श्रोफ़ क्या कहना उसकी ब्यूटी का! हमें सा'ब वे उसके पास ले गए। एक डॉयलाग बताकर उसका ऐक्टिंग करने को कहा। हमने दोनों हाथ माथे पर मारे श्रौर कहा, 'रांड, तू हमारी बोली नहीं समझती, हम तेरी ज़बान नहीं जानते, हमारा-तेरा साथ क्या?' बस सा'ब डॉयलाग बोलने भी नहीं दिया श्रौर

'ब्यूटीफुल' 'ऐक्सीलेण्ट' कहकर उन्होंने हमें गोद में उठा लिया। पूरे फिल्म में हमने काम किया और बाद में हमें पता चला कि उस फ़िल्म के डायरेक्टर थे हिमांशुराय !"

इस चरम पर कथा को लाकर उन्होंने श्रोताओं को देखा। सब आश्चर्य से विश्वासपूर्वक उन्हें देख रहे थे। इतना सजीव एवं शक्ति-शाली उनका वर्णन था कि उसके अनुसार ही श्रोता मुस्कराते और गम्भीर होते। तभी पीछे पड़े खून की ओर मेरा ध्यान गया। इस कथा में हम उसे बिलकुल ही भूल चुके थे। एक कुत्ता सूँघता हुआ आकर उसे चाटने लगा था। मन में हुआ, मनुष्य का खून क्या इतना सस्ता है ? भगा देने की इच्छा हुई, पर न जाने क्यों हाथ हिल नहीं पाया।

"यह ज़रा-सा खून निकला और लोगों ने समझा न जाने क्या फाँसी लग जायगी।" इस बार उन बनियान वाले महाशय ने सिगरेट फेंककर कहा, "अरे मुझे पच्चीस साल यही करते हो गया। हम लोगों को क्या खून""दो भाई तो हम फ़ौज में हैं, एक पुलिस में—जहाँ दिन-रात यही होता है। एक बार की बात है जब हम लोग ईरान में थे। दुश्मन से घिर गए थे। मार्च का आर्डर मिला। कैप्टन होने के नाते सारा चार्ज मेरे ही ऊपर था।" और वे भी एक किस्सा बताने को थे कि भीड़ में भनभनाहट हुई, दरोगाजी आ गए। लोगों ने इधर-उधर हटकर जगह छोड़ दी। तभी साइकिल पर, बगल में डेढ़ हाथ का बेंत, काला चश्मा लगाए, गोरे-मोटे-से दरोगाजी पूरी वरदी में वहीं उतरे। प्रायः सभी लोग सटपटाकर इधर-उधर थोड़े-से खिसके। बातों के जादू में स्थिति की जिस गम्भीरता को भूल गए थे, वह जैसे फिर नई हो गई। पर अब क्या होगा, यह जानने की इच्छा से और भी चलते-फिरते लोग, दूकानदार फिर आ जमा हुए। कुत्ता अब भी बड़े मनोयोग से खून को सूँघ-सूँघकर चाट रहा था।

"आइए-आइए दरोगाजी !" ठाकुर साहब एकदम उठ खड़े हुए, उनकी अभ्यर्थना करते हुए एक कदम आगे बढ़े—"हटो भई,

बैठने दो इन्सपेक्टर साहब को। हटो, जाइए सा'ब आप लोग। क्या भीड़ लगाई है, अपना-अपना काम देखिए !" कहकर उन्होंने दरोगाजी की साइकिल लेकर एक ओर खड़ी कर दी। दरोगाजी दुकान पर बैठकर चश्मा हटाकर लोगों के बीच से उस खून की ओर तीव्र दृष्टि से झाँकते हुए बोले, "और कहिए ठाकुर साहब, यह क्या हंगामा खड़ा कर दिया ?"

"कुछ नहीं सा'ब !" फिर पास बैठे लड़के की ओर देखकर बोले, "जा भई, शरबत, पान, सिगरेट ला कुछ दरोगाजी के लिए।" फिर खुद ही हँसकर कहा, "कभी-कभी ही तो आप गरीबों को खातिर करने का मौक़ा देते हैं।" लड़का चला गया और उन्होंने स्वयं बड़े आदर के साथ अपनी जेब से हाथी छाप सिगरेट और दियासलाई की डिबिया पेश की। दरोगाजी ने सिगरेट जलाकर सब लोगों की ओर ग़ौर से देखा, फिर उन बनियान वाले सज्जन की ओर देखकर कहा, "कहिए कैप्टन साहब, छुट्टियाँ कब तक और हैं ? अब तो लड़की की शादी का काम-काज भी खत्म हो गया होगा। आप तो ऐसे बैठे हैं बनियान पहन-कर, कौन कह देगा कि कैप्टन हैं।"....और स्वयं सिगरेट का धुआँ छोड़ते हुए ज़ोर से हँसे।

"अरे भई, यह घर है। यहीं नंगे घूमे थे। आज कैप्टन हो गए तो क्या हो गया !" जब से दरोगाजी का रुख देखकर कैप्टन साहब बुरा माने बैठे थे, अब खुश हो गए। एकदम जैसे कुछ याद करके बोले, "अरे, तुम्हें भी तो निमन्त्रण मिला होगा—बड़ी राह देखी तुम्हारी।"

"अरे आप समझते हैं कैप्टन साहब, शहर का मामला है, कितने बिज़ी हैं हम लोग ! अब यही साला गिड़गिड़ाने लगा जाकर कि 'ग़रीब आदमी हूँ, बेकार मारा है। मैं ठीक गिन रहा था।" मैंने कह दिया—ग़रीब है तो वहाँ उन लोगों से भिड़ा क्यों था जाकर ? एक और थे लीडर-से साथ में। वे वकालत कर रहे थे, उन्हें भी डाँट दिया—"आप कौन होते हैं दालभात में मूसलचन्द ! मेरे मन में जो होगा वही तो

करूँगा, आप कहेंगे वह कैसे हो सकता है? आजकल तो ठाकुर साहब, ऐरे-ग़ैरे सब उपदेश देने लगे हैं। सब कानूनदां की पूँछ बने जाते है। हमने पन्द्रह साल जैसे घास ही खोदी है।" जैसे कुछ सोचते हुए उस पर झुंझलाकर दरोगाजी ने जोर से सिगरेट का कश खींचा।

"अरे साहब, क्या पूछते हो आजकल को!" ठाकुर साहब ने कहा। तभी वह लड़का एक गिलास में शर्बत तथा एक हाथ में पान ले आया। उन्होंने उसके हाथ से गिलास लेकर दरोगाजी की तरफ़ बढ़ा दिया। कुत्ता अब भी खून चाट रहा था।

"नहीं-नहीं ठाकुर साहब, इस तकल्लुफ़ की क्या ज़रूरत थी?" गिलास लेकर घूंट-घूंट पीते हुए दरोगाजी बोले। जब गिलास समाप्त हो गया तो ऐसा भाव दिखाया जैसे चित्त प्रसन्न हो उठा। पान को बड़े अहतियात से मुंह में रखते हुए कहा—"कैप्टन साहब, तेल निकल गया हमारा तो इस नौकरी में—खासतौर से इस शहर में। यहां भाग, वहां जा, रातों सड़कों की धूल फांकते फिर रहे हैं, सभी अफ़सरों का डर। दो-दो दिन बाद सबके यहाँ हाज़िरी बजाने जाओ, नहीं तो उनके दिमाग़ चढ़ जायेंगे। और मज़ा यह कि लेने-देने का कोई मामला नहीं। वे दिन-रात बस यही चाहते हैं कि दरोगा चाहे अपने घर से दे, पर दिलवाता रहे—उनका गट्ठा भरता रहे। उल्लू के पट्ठों से पूछो, दरोगा के भी बाल-बच्चे हैं। अंग्रेज़ तब भी ठीक था। इन हिन्दुस्तानियों के मारे तो और भी नाक में दम है।"

दरोगाजी ने सिगरेट जलाई—"अरे ठाकुर साहब, तुम्हारी कसम, कोई सेन्स नहीं इस भाग-दौड़ में—सब खानापूरी—दिखावा। अब यहां आना पड़ा इस बेवक्त। बोलो, बीवी के पास अच्छे-खासे लेट रहे थे खाना खाके। दो आदमियों में आपस में कुछ कहा-सुनी हो जाती है, तो दरोगा क्या उसमें अपनी ऐसी-तैसी कराए? लेकिन नहीं साहब, आई० जी० के आर्डर्स हैं—रोजनामचा भरने यहां भी आना पड़ा। ईश्वर कसम ठाकुर साहब, इस जैसा महकमा बेवकूफ़ी

का दूसरा नहीं है। दो-एक दिन कहीं कुछ नहीं हुआ, अब इन्सपेक्टर पूछ रहा है कि वारदातें क्यों नहीं हुईं? जवाब तलब किये जा रहे हैं। अब या तो वारदातें कराओ, या कहीं गांव में फिरो, जहाँ डाकखाना भी नहीं हो। दरोगा को शहर में रहना है, नौकरी करनी है—बैठा-बैठा रोज़नामचे में वारदातें भर रहा है। अच्छे-भले आदमियों को १०९ में ला-लाकर जेल भर रहा है कि आवारा घूम रहा था।" दरोगाजी सहसा उठ खड़े हुए—"अच्छा ठाकुर साहब, अब चलें आगे—और चक्कर लगा आऊँ ज़रा। अच्छा कैप्टन साहब!" इतनी देर से बेंत को धीरे-धीरे हथेली पर मारते हुए वे यह सब कह रहे थे। उसे बगल में लगाया, एक हाथ से साइकिल उठाई और एक हाथ से कालर ठीक करते चले गये। थोड़ी दूर पैदल चलकर फिर साइकिल पर चढ़ गए।

कुत्ता उस खून को चाटता एक सिरे पर आ गया था।

दरोगाजी की नमस्ते का प्रत्युत्तर देकर कैप्टन साहब और ठाकुर साहब ने सारी भीड़ की तरफ़ गर्व-स्फीत आँखों और छाती से देखा। एक बड़ी साँस तीर की तरह खींची और छोड़ दी। आदमी कुछ निराश होकर इधर-उधर बिखरने लगे। उन्हें कुछ और आशा थी।

कुत्ते ने खून को इधर-उधर से चाट-चूटकर बीच का गाढ़े खून का हिस्सा बिलकुल छोड़ दिया था। वहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। अचानक टाँग उठाकर उसने खून पर पेशाब किया, खूब तनकर लम्बी अँगड़ाई ली और धीरे-धीरे एक ओर चला गया।

कुतिया



कुतिया

बड़े भैया न जाने कहाँ से उसे उठा लाए थे। बड़ा सुन्दर पिल्ला था—मोटा-सा। बदबदे शरीर का, बड़े-बड़े बाल, सुनहला रंग। अजीब आकर्षण उसमें था कि देखो तो लेने की इच्छा होती और आँखें तृप्त हो जातीं। अपने छोटे-छोटे पैरों से जब वह इधर-उधर चलता तो बच्चे कुतूहल से उसे देखते। और एक जब आवेश में उसे उठाकर छाती से चिपका लेता तो दूसरा खींचातानी करता, झगड़ता। वह कुतिया थी घर-भर का एक खिलौना। जो आता उसकी तारीफ करता। दिन-भर उसे कुछ-न-कुछ खिलाया-पिलाया जाता और उसका पेट फटने की सीमा तक फूला-सा लगता। कभी कोई बच्चा अकेले में उससे बात करता, कभी बच्चों की तरह थपकी देकर उसे सुलाया जाता। मैं चाहता कि मैं जब पढ़ूँ-लिखूँ तो वह मेरी मेज या गोदी में बैठी रहे।

और वह पिल्ला कुछ बड़ा हुआ।

बाल उसके कम होने लगे और शरीर की सुडौल गठन के स्थान पर एक पतली-लम्बूतरी देशी कुतिया की सूरत उसमें से बाहर निकलने लगी। दिन-भर गोद या हाथों में रहने के कारण पाँव उसके टेढ़े (पंगु) हो गए थे, और वह निहायत सुस्त-आलसी थी। दिन-भर मुँह झुकाए पड़ी रहती, क्योंकि खाना उसे बिना श्रम के मिल जाता था। बच्चों का प्यार कम हो गया।

कुछ और दिन बीतने पर हमने देखा, कुतिया साधारण बाज़ारू कुतियों जैसी हो गई है, उसकी आँखों से कीचड़दार पानी बहता रहता है, जहाँ मक्खियाँ भनभनाया करती हैं। कानों में कलीले भरे रहते हैं। अब उसको खाज भी होनी शुरू हो गई थी।

उसके प्रति सारा स्नेह और प्यार ग़ायब हो चुके थे और बच्चों को निषेध कर दिया गया कि वे उसे ज़रा भी न छुएँ।

बच्चों को न लग जाय या इसका कोई और प्रभाव न पड़े, इसलिए हमें विवश होकर इक्के में बाँधकर उसे शहर के एक दूसरे हिस्से में छोड़ आना पड़ा कि वह उधर आ ही न सके।

बहुत दिन बीत गए।

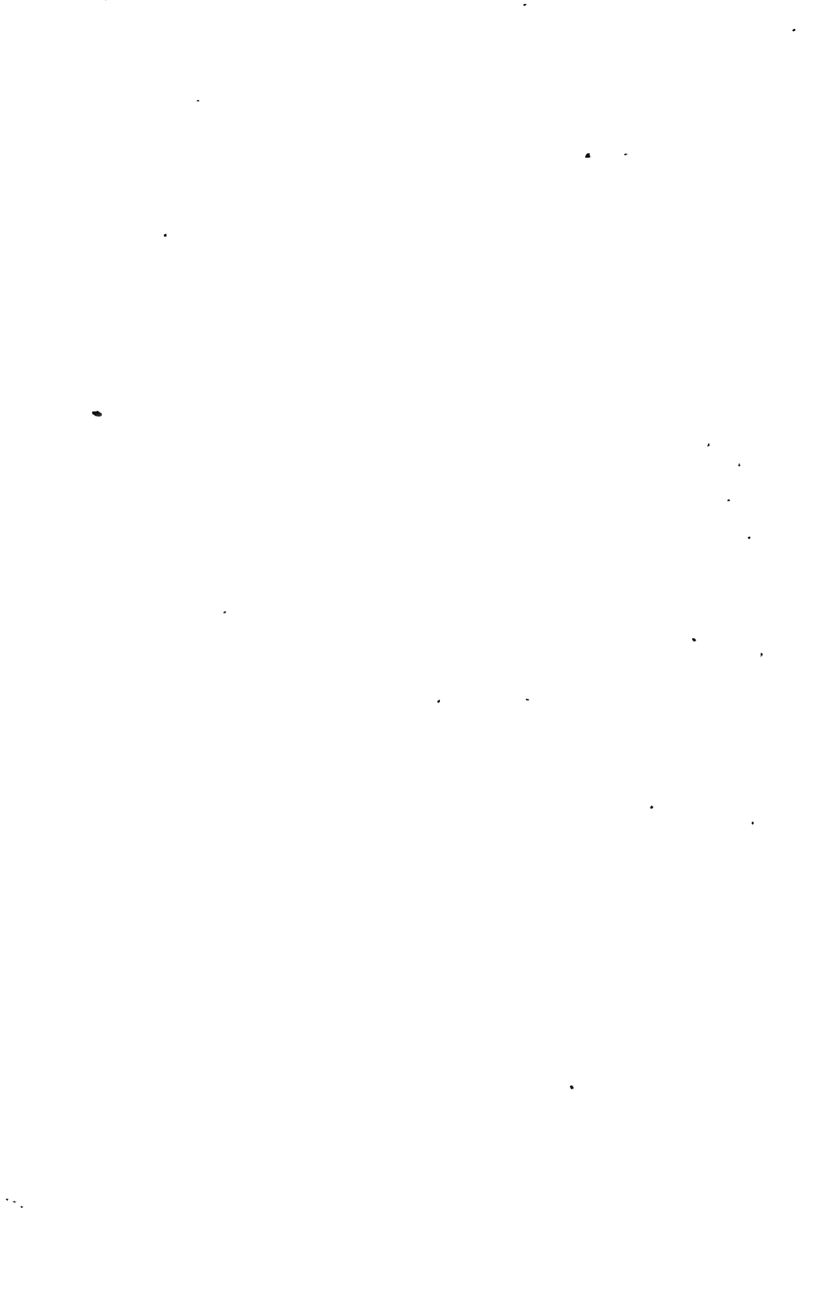
आज मुझे अचानक उधर से गुज़रने का मौक़ा मिला। एक कुतिया मेरे पैरों से लिपट गई, बार-बार मेरे पैरों को सूंघती और दुहरी होकर पूँछ हिलाते हुए कूं-कूं करती। मैंने पहचाना, वही कुतिया थी। अब वह बहुत बड़ी हो गई थी और शायद वह गर्भिणी थी। खाज उसकी अब भी वैसी ही थी। घृणा से मैंने बचना चाहा और बेंत से परे हटाकर चलने लगा। लेकिन वह नहीं मानी, लिपटी-लिपटी चलने लगी। मैंने डांटा, मारने के लिए बेंत भी हिलाया, पर वह गई नहीं। हारकर दो-तीन बेंत उसकी पीठ पर जड़ दिए, क्योंकि मुझे अब उससे तनिक भी मोह नहीं रह गया था।

टांगों के बीच में पूंछ दबाए 'क्यों-क्यों' चीखती वह एक तरफ़ हट गई और सड़क के किनारे बैठी एक स्त्री के पास खड़ी होकर अपलक

मुझ देखने लगी। मुझे लगा, उसकी आँखों में पत्थर को भी पिघला देने वाली शक्ति है। वह मूक पशु! दिल भर आया और खड़ा उसे देखता रहा। वह कभी हमारे यहाँ रही थी और प्यार की भाजन थी। काश, वह बोल पाती!

स्त्री की पीठ मेरी ओर थी, शायद वह कोई भिखारिन थी, लेकिन जवान थी। कुतिया ने उसे सूंघा और मेरी ओर देखती पूंछ हिलाती रही। प्यार से स्त्री ने कुतिया के ऊपर हाथ फेरा। हाथ का रंग गोरा था, लाल काँच की चूड़ियाँ थीं। सड़क पार, सामने दूकान पर बैठे लाला को सम्बोधन करके उसने कड़ककर रोती हुई आवाज़ में कहा—"जाड़े-धूप-लू में मैं यहीं सड़कर मर जाऊँगी, पर जाऊँगी नहीं! ईश्वर तुझे देखेगा, तेरे शरीर में कीड़े पड़ेंगे। पहले मीठी-मीठी बातें करके घर से—माँ-बाप के यहाँ से—भगा लाया। आठ-दस साल मौज उड़ाई और अब छोड़ दिया। जवान थी तो तेरे यहाँ रही, अब बता मैं कहाँ जाऊँ? मेरा घर-बार सब छुड़ा दिया। कोठा लेकर बैठूंगी भी तो तेरे सामने ही बैठूंगी। बड़ा सेठ बना है''''नास जायगा नास''''"

खजैली कुतिया की पीठ पर मुंह रखकर वह फूट-फूटकर रो पड़ी। सिर की धूल-भरी उलझी लटें कुतिया की पीठ पर बिखर गईं—शायद कभी वे सुन्दर रही हों।



पिल्ला



पिल्ला

किसी ने घंटी बजाई। मैंने छोटी बहन को भेजा, "देखना कौन है?"

उसने किवाड़ खोले और चौड़ी-सी सँद बनाकर वहीं खड़ी बाहर किसी से बात करती रही। मैं उत्सुक था कि आख़िर कौन है जो भीतर नहीं बुलाया जा सकता? मैंने बैठे-बैठे ही पूछा, "कौन है?"

उसने जवाब कुछ नहीं दिया और भागकर मेरे पास आकर धीरे से, ताकि बाहर वाला सुन न ले, बताया, "कोई आई हैं। मैंने भीतर आने को कहा, पर नहीं आतीं।"

"आई हैं?" आश्चर्य से दोहराता हुआ मैं उठा। "कौन आई हैं?" द्वार पर देखा—अट्ठाईस-तीस वर्ष की, सफ़ेद धोती और ब्लाउज़-में, गेहुँए वर्ण की कोई महिला खड़ी थीं। उलटे पल्ले की धोती देखते ही बताया जा सकता था कि वह पढ़ी-लिखी हैं और ईसाई हैं। मैंने

शिष्टतापूर्वक नमस्कार किया। पूरा दरवाज़ा खोलकर एक ओर हटते हुए कहा, "आइए, भीतर आइए न ! कहिए, कैसे तकलीफ़ की ?"

"नहीं-नहीं, ठीक है।" उन्होंने और भी नम्रता से मुस्कराकर कहा। फिर जैसे किसी अपराध की क्षमा-याचना कर रही हों, बोलीं, "देखिए, एक अर्ज़ है।"

"कहिए, कहिए न !" मैंने शीघ्रता से कहा। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर अर्ज़ क्या है, और इन्हें इतना संकोच क्यों हो रहा है।

"देखिए, आपकी यह कुतिया है न—यह कब बच्चे दे रही है ?" फिर माँगने की झेंप से सकुचाते हुए बोलीं, "हमारा एलसेशियन मर गया है। अब हमें एक कुत्ते की सख्त ज़रूरत है। वह बेचारा तो बड़ा ही अच्छा था। बारह साल का होकर मरा। उसे टॉमी कहते थे, बच्चे।" और शायद उस टॉमी की याद में पिघलकर उनका गला रुँध गया।

मैंने इस विषम स्थिति से उनका उद्धार करते हुए कहा, "बड़े शौक से, बड़े शौक से ! यह तो दो-तीन बच्चे देगी, उन सबका हम क्या करेंगे ? बहुत हुआ तो एक रखेंगे। वैसे मैं आपका परिचय···"

"हाँ-हाँ, मैं जैक्सन परिवार की हूँ—आशा जैक्शन। प्रैक्टिस कर रही हूँ। यहीं पास के मुहल्ले में हमारा बँगला है। जैक्सन साहब को तो आप जानते होंगे न—शराब की दुकान है बहुत बड़ी, कैंट में। ख़ैर, अगर आप इस बच्चे का कुछ चाहेंगे···" फिर जैसे झेंपकर कहा, "बात यह है कि मुझे आपकी कुतिया बहुत ही पसन्द है। बड़े क़द का कुत्ता मुझे पसन्द नहीं है। छोटे-से-छोटा हो और देखिए, मैं आँखें बन्द ही ले जाऊँगी।"

बच्चे का कुछ चाहने की सुनकर मैंने जल्दी से कहा, "अरे···अरे, आप क्या बात करती हैं ! आप तो पिल्ला लेंगी न ?"

"जी हाँ, देखिए, किसी दूसरे को मत दीजिएगा," शिष्टता की प्रतिमूर्ति बनकर उन्होंने कहा, "मैं परसों फिर पूछ जाऊँगी।"

"नहीं, कोई बात नहीं है, मैं ज़रूर आपको दे दूँगा।"

"अच्छा, मैं चलूँ। देखिए, भूलिएगा मत।" माथे तक हाथ करके उन्होंने नमस्कार किया और बरामदे से उतर गईं। जाते वक्त फिर कहा, "देखिए, किसी और से वायदा मत कीजिएगा।"

"आप खातिर जमा रखिए," मैंने उन्हें आश्वासन दिया—मुस्कराते हुए।

•

कानों में मफ़लर लपेटे और मोटे-मोटे चैस्टर डाटे हम दोनों ही घूमने जा रहे थे। हाथ जाड़े के कारण हमने जेबों में ठूँस रखे थे। दिसम्बर के अन्तिम दिनों की ठंड और सुबह के पाँच बजे का वक्त। सूरज निकलने में अभी काफ़ी देर थी और कोहरा बड़ा घना था। सुबह की ठंडी हवा नाक-कानों को जमाए दे रही थी। बोलने में भी आगा-पीछा सोचना पड़ रहा था। हम लोग चुपचाप ही चलते गए। हम जैसा साहसी एकाध और आता-जाता दिखाई दे जाता था। टहलकर लौटने वाले प्रायः जुगाली की तरह उन्मुक्त रूप से दातुन चबाते हुए आते और जाने वाले जाड़े की सीत्कार के साथ 'रघुपति राघव राजाराम' या कोई और भजन की धुन मुँह से निकालते हुए।

निर्दिष्ट स्थान पर आकर हम लोग रुके, और मशीन के पुतलों की तरह लौटने के लिए घूम गए। चुपचाप ही लौट चले। नाम इनका सरन बाबू है। अध्ययन में मुझसे बहुत, और उमर में पाँच-छः वर्ष बड़े हैं, इसलिए मैं इनका आदर करता हूँ।

आखिर मैंने कुछ सोचकर हँसते हुए कहा, "सरन बाबू, आप जैक्सन साहब को जानते हैं? कैंट में शराब की दूकान है।"

"कौन जैक्सन? जैक्सन एण्ड कम्पनी तो नहीं?" उन्होंने मेरी ओर देखा।

"हाँ-हाँ, वही। कल उनकी कोई बहन आई थीं—मिस आशा-जैक्सन, पिल्ला लेना चाहती हैं। बड़ी खुशामद कर रही थीं। हमारी

ज़रा-सी तो कुतिया है। मुश्किल से दो-तीन पिल्ले देगी, और लोगों ने अभी से माँगने शुरू कर दिए हैं।"

"अच्छे किस्म की होगी?" फिर अचानक याद करके कहा, "अच्छा, वह नौ इंच ऊँची वाली—क्या नाम है उसका? भई, साफ़ बात है, उसका एक पिल्ला तो तुम्हें हमें देना पड़ेगा। पीछे देते रहना किसी जैक्सन-फ़ैक्सन को। तुम जानते हो, बाल-बच्चा कोई हमारे है नहीं। अच्छा-सा पिल्ला हमें ज़रूर चाहिए।-मैं तुमसे साफ़ कहे देता हूँ—कोई भी बहानेबाज़ी नहीं सुनूंगा।" फिर कुछ रुककर कहा, "इन माँगने वालों की क्या है? वही कुतिया तो है न....." वह नाम याद करने लगे।

"हाँ, वही। बड़े अच्छे किस्म की है। वह तो उसका कुछ देने को भी तैयार है। हमारे यहाँ तो यों ही आ गई थी।"

"भई, चीज़ अच्छे किस्म की हो, बीस माँगने वाले आ जायेंगे। कहीं कस्तूरी छिप सकती है? चीज़ तो दूर-दूर से अपना मोल पुकारकर कह देती है।" सरन बाबू ने बड़ी गम्भीरता से कहा, "अब यहाँ जात-पांत न मानने वालों से मैं एक सवाल करूँगा। क्यों भई, कुत्ते-कुत्ते तो सभी एक बराबर हैं। उनमें इस तरह का भेद करना कहाँ तक उचित है कि एक को आप दो हज़ार रुपये का भी खरीदें और एक की बात भी न पूछें?"

"क्या मतलब आपका? आप कहना चाहते हैं कि आदमी-आदमी का यह भेद, रक्त-सम्बन्धी ऊँच-नीच, शूद्र और ब्राह्मण का बँटवारा ईश्वर का किया हुआ है?" मैंने चौंककर उनकी ओर देखा। मुझे मालूम था कि वह जातिवाद में विश्वास रखते हैं, लेकिन अभी तक मैं अपने-आपको उनसे सहमत नहीं कर पाया था।

"बिलकुल, बिलकुल," उन्होंने दृढ़ता से कहा, "ईश्वर और प्रकृति ने सभी जगह विभाजन किया है। शेर-शेर एक नहीं होते, मछलियों में भी सैकड़ों भेद हैं, आप कहीं भी ले लीजिए। फिर यही क्यों असम्भव है कि आदमी-आदमी में कुछ भेद हो? क्षत्रिय क्षत्रिय है, ब्राह्मण

ब्राह्मण है। आप कितनी भी कोशिश कर लीजिए, वनिया नहीं छिप सकता। सभी मनुष्य समान हैं, यह सिद्धान्त वड़ा ही अवैज्ञानिक है।"

"लेकिन ये प्रगतिशील विचारों वाले लोग तो गले के सारे व्यास को फैलाकर वस यही चीखते हैं कि सब मनुष्य वरावर हैं, उनमें कोई भेद नहीं है।" मैंने तर्क रखा।

"यही तो इनकी अवैज्ञानिकता है," उन्होंने वड़े आत्मविश्वास से वताना शुरू किया, "किसी भी चीज का वैज्ञानिक विश्लेषण आप तभी कर सकते हैं जब अपने को उससे विलकुल तटस्थ और निर्लिप्त वना लें। जव तक आपका उस वस्तु से किसी भी तरह का सम्वन्ध है, आप निर्लिप्त नहीं रह सकते, यानी वैज्ञानिक दृष्टि से जांच नहीं कर सकते। जो आदमी-आदमी के वरावर होने की वात चिल्लाते हैं, असल में वे अपने-आपको तटस्थ नहीं कर पाते। इसीलिए उनका निर्णय सर्वमान्य नहीं है। एक कुत्ता भी अगर कुत्तों में विभाजन करने वैठेगा तो वह कैसे वैज्ञानिक रह सकेगा, यह मेरी समझ में नहीं आता। क्योंकि पता नहीं वह खुद किस वर्ग में आए। इनमें विभाजन तो आप ही कर सकेंगे जो इन सवसे विलकुल अलग हैं। आप ही तो वता सकते हैं यह ग्रेहाउण्ड है, यह वुलडाग, पायनियर, ताजी, देशी, शिकारी वग़ैरा है।" और अपने तर्क की अकाट्यता पर वह स्वयं सन्तुष्ट-से चलने लगे।

"इसका मतलव तो यह हुआ कि आप सिर्फ़ यही नहीं मानते कि मनुष्य-मनुष्य में श्रेष्ठता और हीनता प्राकृतिक है, वल्कि यह भी मानते हैं कि जिन्होंने इन नियमों तो वनाया वे मनुष्य-मात्र से वौद्धिक रूप में उठे हुए थे, तभी तो विभाजन कर सके।"

मेरा मन इसे स्वीकार तो नहीं कर रहा था, लेकिन वात इतने तर्क-पूर्ण ढंग से और इतने आत्मविश्वासपूर्वक कही गई थी कि इसके विरुद्ध कोई युक्ति नहीं सूझ रही थी।

"इसमें शक ही क्या रह जाता है? निश्चित रूप से वे मनुष्य-मात्र से ऊँचे उठे हुए थे, नहीं तो इतना तर्कपूर्ण विभाजन हो ही नहीं सकता

था। और मैं तो यह मानता हूँ कि समाज का वह ढाँचा बड़े सोच-समझकर विशाल अनुभवों के बाद बनाया गया था, यों ही बैठे-बैठे किसी के दिमाग़ में फितूर नहीं आता। समाज में यह जातिवाद और ऊँच-नीच रहेगा ही और रहना जरूरी है। इसके बिना समाज चल नहीं सकता। मेरा दावा है कि समाज में जब तक अपना वही पुराना ढाँचा नहीं लाया जाता, सुख और शान्ति आ ही नहीं सकती।"

जैसे वह किसी घोर विरोधी को उत्तर दे रहे हों, उसी जोश में एक-एक वाक्य कहते रहे। आखिर उत्तेजना में जेब से हाथ निकालकर हवा में हिलाते हुए उन्होंने कहा—

"लोग साम्प्रदायिकता-साम्प्रदायिकता चीखते हैं, समझते हैं नहीं साम्प्रदायिकता चीज़ क्या है? आप ब्राह्मण हैं, भंगी को अपने पास बिठा-लीजिए, खाना खा लीजिए साथ, इससे होता क्या है? आप उस खून का क्या करेंगे जो उसकी नस-नस में दौड़ रहा है, जो उसके बाप-दादाओं ने दिया है? आप उसे कहाँ निकाल फेंकेंगे? एक चीते और बबरशेर को सिर्फ़ साथ बिठाकर खिला देने से ही आप उनका भेद थोड़े ही दूर कर सकेंगे?" फिर जैसे अनुपस्थित विरोधियों के प्रति उन्होंने घृणा व्यक्त की, "बेवकूफ़ी! बकवास!"

"लेकिन शेर-चीतों का बाहरी भेद इतना साफ है कि हम उन्हें देखते ही पहचान लेते हैं। आप आदमी को देखते ही कैसे पहचान लेंगे कि वह किस कुल का है, क्योंकि मनुष्य में जो फर्क है वह भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार है। पहाड़ों पर रहने वाले गोरे होंगे, विषुवत रेखा के पास रहने वाले काले—अब आप कैसे पता लगाएँगे?" मैं उनके इस जोश से सहम गया, फिर भी तर्क देता रहा। हम लोग घर के काफ़ी निकट आ गए थे।

"देखो, बेवकूफ़ी की बात तो तुम किया मत करो।" अपने बड़े होने के अधिकार का उन्होंने फौरन ही सदुपयोग किया, "आप यह क्यों नहीं सोच सकते कि जिन लोगों ने इस तरह का विभाजन किया उन्होंने

जाति-कुल पहचानने की तरकीब और चिह्न भी दिए हैं ? आपने कभी स्मृति-पुराण आदि कोई चीज़ उठाकर देखी है कि योंही बकबक किये जा रहे हैं ? आप मेरे सामने लाइए कोई आदमी, मैं बताता हूँ।"

आवेश में वह थोड़ी देर चुप रहे। अपने होंठों को भींचते रहे, फिर कुछ नरमी से कहा, "मैं मानता हूँ कि भौगोलिक परिवर्तन होता है, लेकिन कितना होगा ? आप मुझे बताइए, बंगाल और गुजरात करीब-करीब एक ही रेखाओं पर हैं, फिर क्यों वहाँ के रंगों में इतना फ़र्क है ? तो भाई मेरे, यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है।"

अपनी बुद्धि पर इस आक्रमण से मैं तिलमिला गया, "आदमी-आदमी में यह विभाजन यहाँ क्यों है ? हमने तो किसी भी देश में ऐसा नहीं सुना।"

"तभी तो वहाँ आये दिन युद्ध, कतल, लड़ाई, डकैती होती हैं। आप मुझे बताइए वहाँ कोई सुख, कोई शान्ति है ?"

"सो तो यहाँ भी हो रहा है," मैंने कहा।

"यही तो मैं कह रहा हूँ श्रीमान्, यहाँ यह सब-कुछ क्यों है ? क्योंकि हम सब उससे दूर हो गए हैं। विदेशों में तो यह चीज़ है ही नहीं। उसकी अंधी नक़ल में हम भी उसी तरफ़ भाग रहे हैं। कोई नहीं जानता कहाँ पहुँचेंगे, कहाँ मरेंगे, बस घिसटना, पीछे घिसटना। अपनी आत्मा की सारी तिक्तता लाकर उन्होंने कहा।

हम लोग चुपचाप चलते रहे।

"कुछ भी हो, आखिर यूरोप वाले भी इस चीज़ को समझेंगे ही, जायँगे कहाँ ?" उन्होंने गर्व और विश्वास से कहा।

मैं चुप रहा, प्रायः निरुत्तर भी। हम लोग घनी बस्तियों में आ गए। रोशनी हो रही थी और कुहरा मिट रहा था। नाले की पुलिया पर बैठे कुछ बुड्ढे चैस्टरों और अलवानों में ढके दबे बड़े जोश में अपने-अपने राजनीतिक विचारों को व्यक्त कर रहे थे। मुख्य सड़क पर हम चलने लगे थे।

अचानक मैं चौंक गया। एक पतली-सी गली मकानों के बीच में चली गई थी। उसी में ज़रा भीतर जाकर सैकड़ों आदमी झुण्ड बनाए खड़े थे। हम लोग वहीं रुककर देखने लगे। भीड़ में जिन लोगों के मुँह दिखाई दे रहे थे वे बड़े शरमाए और मुस्कराते हुए थे।

"आइए सरन बाबू, ज़रा देखें क्या है ?" मैंने ठिठककर कहा।

"अरे, होगा क्या, कुछ चुनाव का प्रोपेगैंडा है। आजकल तो सभी पर यही चुनाव का चक्कर है।" उन्होंने लापरवाही से कहा। वह अधिक उत्सुक नहीं थे।

"नहीं, तब भी देखें न !" मैंने कहा और गली में मुड़ गया। चादर लपेटे, जनेऊ कान पर चढ़ाए एक आदमी सामने के नल पर मिट्टी लगा-लगाकर हाथ धो रहा था। उसी से पूछा, "क्यों भई, क्या मामला है ?"

"कुछ नहीं जी, आज सुबह-ही-सुबह भंगिन जब झाड़ू लगा रही थी तो मन्दिर की दहलीज पर टाट में लिपटी हुई कोई चीज़ दिखाई दी। उसने समझा कूड़ा-करकट होगा, झाड़ू मारी तो टाट खुल गया, देखा एक बच्चा था।"

"बच्चा !" चिहुँककर मेरे मुँह से निकल गया।

"हाँ बच्चा, हाल का होगा या एक-दो दिन का होगा।" उसने कुछ दुःख प्रकट करके कहा, "जाड़े के मारे बेहोश-सा था। वह तो लोगों ने रुई से दूध पिलाया, कपड़े उढ़ाए, तब उसके गले से आवाज़ निकली।"

"अच्छा ! तब तो ज़रूर देखना चाहिए।" वहाँ से बढ़कर हम और सरन बाबू भीड़ में आ गए। हृदय में बड़ी उत्सुकता थी, आख़िर बच्चे को यहाँ कौन छोड़कर चला गया ? कैसा है ?

भीड़ से झाँककर देखा, गोल घेरा-सा छोड़कर जमीन पर ही वह बच्चा लेटा था, नीचे टाट था। फिर एक सफ़ेद फटी धोती कई तह करके बिछाई हुई थी, उसी पर वह लेटा था। ऊपर से फटे कम्बल का टुकड़ा

किसी ने उढ़ा दिया था। बच्चे का केवल मुँह ही खुला था—छोटा-सा, गोल-गोल लाल मुँह। सिर में बालों की जगह हलके रोएँ, छोटी-छोटी आँखें और नाक। देखते ही एक अनजान प्यार दिल में उमड़ने लगा। अधखुली आंखों से संसार को देख रहा था वह मासूम, अबोध, अनजान शिशु ! भंगिन न देखती तो नन्हीं-सी जान""चुपचाप मर जाता। लेकिन है कितना प्यारा ! अभी संसार की क्रूरता और विषमताओं की छाया उस पर नहीं पड़ी, संसार"""एक गहरी सांस हृदय से उठने को हुई। तभी पास वाले सज्जन की चुभती वाणी से चौंक गया।

"किसी को अपने पाप की कमाई रखने की जगह कहाँ मिली है—मन्दिर का दरवाज़ा !" कुटिलता से हँसते हुए वह कह रहे थे। कोट और पाजामा पहने थे, मफ़लर में बँधा उनका मुँह बनमानुस की शकल की याद दिला रहा था।

इधर-उधर के वातावरण को देखा—मिश्रित भावनाओं का एक विचित्र वातावरण था। भीड़ में स्त्रियाँ, पुरुष, बच्चे, बूढ़े, सभी थे।

"हाय, कैसा खूबसूरत बालक है !" एक स्त्री ने दयार्द्र होकर कहा।

"कौन कम्बख्त थी, यहाँ डाल गई !"

"देखा अम्माँ, छोटी-छोटी आँखों से टुकुर-टुकुर देख रहा है," एक पाँच-छः साल की लड़की ने कहा, "अम्माँ, इसे घर ले चल, यहाँ क्यों पड़ा है ?" ललककर माँ की उँगली झटकते हुए उसने माँ के मुँह को देखा, "कौन लिटा गया है इसे यहां ?"

माँ ने हाथ झटककर झिड़क दिया, "चुप भी रह !" एक हलकी लाली उसके साँवले गालों पर झलककर छिप गई। उसे छिपाने के लिए वह और अधिक तन्मयता से उसे देखने लगी।

एक युवक ने दूसरे के कंधे पर हाथ मारा—"देख लो यह तुम्हीं जैसे किसी लफ़ंगे की करतूत है, और क्या पता तेरी ही हो !" अपने मज़ाक पर वह खुद ही दांत निकालकर हँस पड़ा। दो-तीन श्रोताओं

ने भी उसका साथ दिया।

जिससे कहा गया था, वह झेंपकर मुस्करा उठा, "चुप बे!" और वह अधिक व्यस्तता से बच्चे को देखने लगा, जैसे इस सबको सुनने की फुरसत नहीं है। लेकिन चोट कुलबुला रही थी, थोड़ी देर चुप रहकर बोला, "अबे साले, यह तो तुम्हीं जैसे किसी का करम है कि आनन्द लूटा और हाथ झाड़कर अलग हो गए, अब भुगतना है जिसे सो भुगते।"

सारे वातावरण में एक विचित्र रहस्य, सहानुभूति, दिल्लगी व कुतूहल व्याप्त हो गए थे। एक व्यक्ति दूसरे की ओर देखता तो कुछ अजीब निगाह से, जैसे मज़ाक कर रहा हो। बिलकुल स्पष्ट था कि किसी विधवा या कुमारी के पाप का यह परिणाम है, जिसे समाज की नज़रों से बचाने के लिए उसने यहां छोड़ दिया है। लेकिन आखिर उसका कलेजा कैसा होगा? क्या उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े होकर बाहर नहीं आ गया होगा? आखिर वह हिम्मत कैसे कर सकी? पता नहीं उस बेचारी पर क्या बीती होगी? उसकी विवशता, धँसी हुई आँखों से सिसकती कराहों के पिघलते लावे जैसे आंसू एक-एक बूँद करके टपकते दिखाई दिए और मैं इस कल्पना-चित्र से ऊपर से नीचे तक बिजली के करेंट के झटके की तरह सिहर उठा। कोई सहानुभूति दिखा रहा था, कोई मज़ाक कर रहा था। वैसे सबके सामने यही प्रश्न था कि इस बच्चे का आखिर होगा क्या?

एक वृद्ध ने टोपी उतारकर अपने सफ़ेद बाल दूसरे को दिखाते हुए कहा, "सफेद बाल तो हमारे हो गए, हमने तो अभी तक ऐसा अधर्म देखा नहीं।"

"हे भगवान्, अभी इन आँखों से न जाने क्या-क्या देखना और रह गया है!" दुःख से विह्वल होकर दूसरे वृद्ध ने कहा।

"हमें तो राम अब उठा ले बाबा, ऐसा कलजुग तो देखा नहीं जाता," पहले बोले, "आजकल तो जो न हो जाय सो ही थोड़ा है।"

भीड़ में अपना सिर छिपाकर किसी ने आवाज़ कसी, "बाबा ये सब तुम्हारे ज़माने की ही तो बातें हैं, अभी हम लोगों का ज़माना आया कहाँ है ?"

बाबा नाराज़ हो गए और उस ओर ऐसे देखा जैसे नज़रों से ही इस बात को कहने वाले को भस्म कर देंगे, "अरे लौंडो, सब तुम्हारी ही करतूतें हैं !"

"अच्छा, यह बहस तो छोड़ो, अब यह बताओ कि होगा क्या इसका ?" अधेड़-सी उमर के एक व्यक्ति ने पूछा। अपने सिलेटी शाल और कत्थई रंग के ऊनी कपड़ों में वह इस मुहल्ले का प्रमुख व्यक्ति मालूम होता था।

"अनाथालय वाले ले जायँगे, ज़्यादा हुआ तो पुलिस वाले ले जायँगे।" एक ने उत्तर दिया।

तभी भीड़ के दूसरे सिरे से किसी ने मज़ाक-भरी आवाज़ में पुकार-कर कहा, "सरन बाबू तुम ले जाओ इसे। तुम्हारे कोई बाल-बच्चा भी नहीं है, पाल लेना इसे। बेचारे का उद्धार हो जायगा।"

पास ही किसी ने प्रार्थना के स्वर में कहा, "हाँ, सरन बाबू, तुम्हीं ले लो न ! अनाथालय वालों के पास पहुँच गया तो उलटा-सीधा खाना देंगे और दयानन्द का डंका बजवाते हुए दरवाज़े-दरवाज़े भीख मँग-वाएँगे। और क्या पता बीच में ही मर जाय—उनके घर से क्या जाता है ? पुलिस वालों का भी क्या ठीक है, वे भी किसी अनाथालय में ही जाकर डाल आएँगे।"

इससे पहले कि सरन बाबू कुछ उत्तर दें, एक सज्जन ने दार्शनिक स्वर में कहा, "क्या रवैया है, साहब, दुनिया का भी—पाप किसी ने किया और भोगे कोई। अब यह बेचारा फिरेगा मारा-मारा।"

सभी लोग आशा से उत्सुक होकर एकदम सरन बाबू की ओर ही देखने लगे। इस अप्रत्याशित प्रहार से सरन बाबू अचकचा उठे। झुँझलाकर कहा, "अच्छा मज़ाक है ! कोई बाल-बच्चा नहीं है तो

सड़क से उठाकर डाल लूं ? तुम भी लालाजी, क्या बातें करते हो ! अब इसकी जात का पता नहीं, पात का पता नहीं। मेरी बीबी तो घुसने भी नहीं देगी—किसका बच्चा उठा लाए !"

"हां, यह बात तो है।" गम्भीरता से सोचते हुए बहुतों ने सिर गिरा लिए, "पता नहीं किस जात का है ?"

एक गांव के-से धर्मप्राण आदमी ने पास वाली बुढ़िया को समझाया, "हां, ठीक कह रहे हैं बाबूजी। ज़रा-सा बच्चा, क्या पता लगे किस जात का है ? बोल सके नहीं, बता सके नहीं। माथे पर उसके लिखा नहीं कि फलां जात का है। भंगी, चमार, ठाकुर, बामन—पता नहीं किस जात का है। और कौन जाने मुसलमान ही हो, कोई कैसे ले ले ?" फिर बड़े निराश होकर वह वीतराग महाशय घर की ओर चल दिए।

"हां-हां, ठीक है," बुढ़िया ने स्वगत कथन करते हुए राय दी, "रांड थी कैसी ? यहां बीच सड़क पर डाल गई है। अरे, सब अन्धे हो जायें जवानी में। आगे देखें न पीछे, अब तो किसी की लिहाज़-शरम रही ही नहीं।" अथाह दुख उसके प्रत्येक शब्द में कराह रहा था।

प्रत्येक व्यक्ति इस बात को इस तरह ले रहा था जैसे संसार में यह घटना बस पहली ही बार हुई है और कभी किसी भी व्यक्ति के जीवन में कम-से-कम उसकी आंखों के सामने, ऐसी घटना हुई ही नहीं थी। और इस समय तो बस स्तब्ध रहने के अतिरिक्त वे कुछ कर ही नहीं सकते। भीड़ के बुड्ढे-बुढ़िया या कुछ और भी व्यक्ति भीड़ से ज़रा हटकर एक-दूसरे के अधिक-से-अधिक पास मुँह ले जाकर, धीमे-से-धीमे स्वर में बात को, इस सामने पड़े बच्चे से, अपने पास-पड़ोस के जान-पहचान वालों के घरों में ले गए थे—फलाने की बहू का अपने देवर से क्या सम्बन्ध है, ससुर से कैसे बेपर्दगी करती है, जेठ के सामने कैसे मुस्कराती है। उसकी लड़की या बहन कैसे उस लड़के को देखकर हँस रही थी, चिट्ठी की गोली बनाकर फेंकते अपनी आंखों से देखा। —और भी न जाने कौन-कौनसे जाने-अनजाने रहस्य। हालांकि उनमें

से एक बात कह लेने के बाद अपने घर की बात मन-ही-मन जरूर सोच लेता था।

"जात-पात से तुम्हें क्या है, सरन बाबू ? ले जाओ, अब इस बच्चे की क्या जात ?" एक सुधारवादी ने राय दी।

"वाह यह अच्छी कही !" सरन बाबू चिढ़कर बोले—"किसी का पाप मैं क्यों घर ले जाता फिरूँ ? और जात-पात से होता कैसे नहीं है ? हम तो मानते हैं।"

"तो पता लगा लो न, किस जात का है ? है कोई टैस्ट ट्यूब !" उस आदमी ने सरन बाबू को चुनौती दी—"सीधी-सी बात कही और बाबूजी उस पर ऐंठने ही लगे। अरे, हम ज्यादा बखेड़ा जानते ही नहीं। पाप हो या पुण्य, सीधी-सी बात जानते हैं—आदमी का बच्चा है, कैसा फूल-सा मुस्करा रहा है ! तुम जात और रख दो अभी से उसकी छाती पर !" शायद वह सरन बाबू से पहले से परिचित नहीं थे।

"जात छाती पर नहीं रख दी, तो तुम क्यों नहीं ले जाते ?" एक रुई की फतोई और कनटोपे वाले अधेड़ उमर के व्यक्ति ने सरन बाबू का पक्ष लिया।

"जी हाँ, छः बच्चे घर पर न होते और सौ की बजाय कुछ भी तनखाह ज्यादा होती तो मैं ले जाकर भी दिखा देता," वह बोले।

तभी पास बैठी भंगिन ने जरा ललकार-भरे स्वर में कहा, "कोई नहीं ले जा रहा तो, बाबूजी, मैं ले जाऊँ ? अपने मुहल्ले में दे दूँगी किसी को। कोई-न-कोई तो ले ही लेगा।" बात उसने खूब ऊँचे स्वर में सब को सुनाकर कही थी।

सब चुप थे, लेकिन इस बात को मन-ही-मन किसी ने भी स्वीकार नहीं किया कि इस बच्चे को भंगिन ले जाय। रंग खूब गोरा है, हो सकता है किसी ऊँची जाति का हो। भंगिन की इस बात का सभी एक स्वर से विरोध करना चाहते थे। लेकिन विरोध कर तो दें, पर फिर ले कौन ?

सरन बाबू ने कुहनी का इशारा किया और धीरे से मुँह को इस तरह झटका कि चलो इस बेवकूफ़ी में वक्त बरबाद करना मूर्खता है। और वह मेरी प्रतीक्षा न करके स्वयं मुड़कर चल दिए। लाचार मुझे भी लौटना पड़ा, वरना मेरी प्रबल इच्छा अगली बात देखने की थी। लेकिन सरन बाबू बहुत अधिक क्षुब्ध हो उठे थे। यह उनके मुँह की मुद्रा से साफ़ था। इस समय मेरे रुकने से वह बहुत बुरा मान जायँगे।

भीड़ से अलग आकर उन्होंने भुनभुनाते हुए कहा, "हूँ, ! मैं ही बेवकूफ़ मिला !"

मैंने कुछ नहीं कहा, चुपचाप चलता रहा। मेरे भीतर एक विचित्र क्षोभ और आन्दोलन उमड़ पड़ा था। वाकई कितना मुश्किल प्रश्न है ! एक बच्चा है लावारिस, बोल नहीं सकता, बता नहीं सकता—कैसे पता लग सकता है कि उसकी जाति क्या है ? मुझे सरन बाबू के सारे तर्क व्यर्थ लगे। अब रंग और रक्त की परीक्षा करके क्यों नहीं बताते कि यह बच्चा ब्राह्मण है या मुसलमान ? अंतरतम में मैं प्रसन्न था—अच्छा हुआ।

वह जगह आ गई जहाँ हम लोगों को अलग होना था। बीच में आई उस उत्तेजना को सरन बाबू दबाकर अब भरसक प्रकृतिस्थ होने का प्रयत्न कर चुके थे। अब उनके मुँह पर ऐसा भाव था जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

विदा होते हुए उन्होंने कहा, "अच्छा भई, तो कल फिर चलेंगे घूमने।"

"हाँ, ज़रूर,-ज़रूर।" मैंने उनका बढ़ा हुआ हाथ अपने हाथ में लेकर उन्हें आश्वासन दिया।

थोड़ी दूर चलकर वह फिर लौटे। बोले, "और सुनो भई, इन जैक्सन-फैक्सन के चक्कर में मत आना, पिल्ला मैं ले जाऊँगा, समझे ?"

"अच्छा !" मैंने अन्यमनस्क होकर उत्तर दिया।

रोशनी कहाँ है



रोशनी कहाँ है

वाकई त्रिस्सो बाबू आज परेशान था। इतने विश्वास का परिणाम यह हुआ ? भूखे मरते उस सोभा को खिलाया-पिलाया, रखा, और अब यों धोखा देकर चला गया। हाथ में दूध का गिलास और ताली लिये जब वह आया तो दूकान के तख्ते लगे हुए थे लेकिन छड़ बाहर नहीं लगी थी—उसका माथा ठनका। आज तो वह बाहर छड़ और ताला खुद अपने हाथ से लगाकर गया था। रात को काफ़ी देर तक सोभा की राह देखी और फिर निराश होकर एक रात मज़ा चखाने के विचार से ताला लगाकर घर आ सोया था। उसका दिल धक् से रह गया—पता नहीं आज क्या दुर्घटना उसकी प्रतीक्षा कर रही है ? उत्सुकता के मारे फटे जाते हृदय को दाबे, उसने जल्दी से दूकान के दो तख्तों को निकाल-कर बाहर एक ओर रख दिया। अभी तक मन में कहीं यह आशा थी कि हो सकता है सोभा के हाथ कहीं से ताली पड़ गई हो और वह भीतर

जा सोया हो। झाँककर देखा, कोई नहीं था। जब वह भीतर घुसा तो उसकी आँखों में अँधेरा इस तरह नाच रहा था जैसे कुतुबमीनार से उसे किसी ने धकेल दिया हो। रैस्टराँ की अलमारी की हर चीज़ इधर-उधर गड़बड़ पड़ी थी और चाय के पुड़े, दियासिलाई के बंडल—सभी कुछ ग़ायब थे। चूहों के डर से जिन मर्तबानों को वह फूटे शीशे वाले शो-केस में बन्द कर गया था, उनमें न तो डबल रोटी थी, न केक-पेस्ट्री, न बन। गिलास उसने एक ओर रख दिया, जैसे हाँफते हुए हताश भाव से इधर-उधर देखकर वह बड़बड़ा उठा, "सफ़ाया कर गया सारी दूकान का !"

जैसे-तैसे बैंच पर बैठकर उसने एक बार सूनी आँखों से अपने उस दूकाननुमा रैस्टराँ में लगाई गई अँगीठी को देखा, काउण्टर को देखा, खुली अलमारी के धुएँ और गन्दगी से काले दोनों पटों को देखा, खाली खानों को देखा, धूल से अटे शो-केस, पर तीनों खाली मर्तबान, गांधीजी के बन्दरों की तरह रखे थे—और वह सोच कुछ नहीं पाया, सोडावाटर की गैस के ज़ोर से बोतल के मुँह में आ फँसने वाली गोली की तरह एक बड़ा-सा गोला न जाने कहाँ से उठकर उसकी छाती में आ फँसा। हर आदमी उसके विश्वासों को नोचकर फेंकने के लिए ही पैदा हुआ है। कोई नहीं चाहता कि उसकी कोमल भावनाओं को एक क्षण भी सुरक्षित स्थान मिले। आख़िर ये सब लोग चाहते क्या हैं ? क्या चाहते हैं ये लोग ?

रास्ते-भर वह अन्ना को गालियाँ देता आया था, कोसता आया था। ज़रा भी समझना नहीं चाहती, इतनी देर रोक लिया, पता नहीं कितने आदमी लौट गए होंगे। लेकिन इस क्रोध के भीतर एक दृश्य बिजली की कौंध की तरह रह-रहकर चमक उठता था, और उस दृश्य की हर चमक पर उसे ऐसा लगता जैसे कोई बड़ी निर्दयता से उसकी छाती में छुरा घोंप देता हो। वह क्रोध के कृत्रिम आवरण के नीचे उसे दबाने की कोशिश करता। एक तो यह दूकान ही ऐसे कोने में है कि

नया आदमी देख ही न पाए, फिर बँधे-बँधाए उसके ग्राहक। आख़िर वह ज़रा-सी बात क्यों नहीं सोच पाती ? क्यों आज वह ज़िद कर बैठी ? ज़रा भी तो सब्र नहीं होता था। ख़ास-ख़ास आदमी सब इस समय तक लौट गए होंगे और इस समय वह ज्वार, एक उफान बनकर उसकी छाती में घुटने लगा, घोटने लगा।

वह बैठा रहा। उस उफान और उबाल के बावजूद उसके मन में कहीं कोई चीज़ थी जो स्थिर और अलिप्त थी—एक सहज विवेक, जो कह रहा था—जो हो गया सो हो गया, अब उठो, देर हो रही है। अँगीठी जलाओ, झाड़ू-बुहारी करो, यों हताश बैठने से तो जो हो गया, लौटा नहीं आता। जैसे इस ज्ञान को झुठलाने को ही वह और भी ज़ोर से ज़िद किये बैठा रहा—नहीं, मैं नहीं उठूंगा, योंही बैठा रहूँगा; योंही रात तक !....अब यह मज़ाक बहुत अधिक नहीं चलेगा।

"अमाँ, बिस्सो बाबू, ये क्या नमाज़-सी पढ़ रहे हो, उधर अलमारी की तरफ मुँह करके ? आज सोते ही रह गए ? बहुत प्यार किया क्या भाभी ने ? ये तीसरी बार आया निगम हुज़ूर की दरगाह में।" निगम ने बीड़ी का आख़िरी कश खींचा, झटके से उसे वहीं नाली में फेंका और दूकान में घुसते हुए बोला, "सब लौट गए एक-एक बार, और यार तुम हो बड़े लापरवाह आदमी। दूकान यों खुली छोड़ गए, अभी आकर मैंने देखा। भाई मेरे ज़माने अब वह नहीं रह गए। एक तो निकल कर अब आए और अभी भी ऊँघ रहे हो। रात-भर जागे थे क्या ? अब उठो, भले आदमी की तरह अगीठी-वँगीठी जलाओ।"

एकदम बिस्सो के हृदय में बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी सारी शक्ति से इस कमीने की पीठ पर एक दुहत्थड़ दे—धकेलकर बाहर निकाल दे उसे। और खूब उछल-उछलकर नाचे, बड़े आये हमारी भलाई देखने वाले ! बैठे-बिठाए यहाँ पच्चीस-तीस का नुकसान हो गया। अब ये रुपये कहाँ से आएँगे ? अभी थोड़ी देर में चायवाला गाड़ी लेकर आयेगा, दियासलाई वाला आयेगा। सबसे ऊपर ज़रा-से दूध के लिए, ढाई आने

के दूध के लिए वह जो व्यवहार अन्ना से कर आया है, वह जैसे अनजाने रूप से हर क्षण उसकी साँस घोट रहा है—चाहे जो कुछ हो, उसे अमल के लिए दूध पहुँचाना ही है। आज वह काम नहीं करेगा।

"आदमी तुम निहायत ही सुस्त हो भाई, ऐसे कहीं कोई काम चलता है। आज ऐसी खास बात क्या है, रात को जो नम्बर लगा आए थे फीचर में, वह आया नहीं क्यों ?" निगम ने उसके कंधे पर हाथ-मार कर कहा—"यार मेरे, ऐसी-ऐसी बातों पर सोचोगे तो हो गया !"

बिना निगम की इन बातों की प्रतिक्रिया दिखाए भीतर-ही-भीतर खौलता हुआ बिस्सो बाबू धीरे से उठा। मरी चिड़िया के पंखों-से खुले अलमारी के दोनों किवाड़ बन्द कर दिए। एक-एक तख्ता उठाकर भीतर एक ओर लगा दिया, कल तक इसमें ऊपर तक दियासलाइयाँ, मोमबत्तियाँ, सिगरेट के डिब्बे, चाय के पैकेट रखे थे, आज वह खाली थी। शो-केस को सामने वाली दीवार पर अलमारी के ऊपर टाँगा। एक के ऊपर एक रखे मूढ़े और कुरसियाँ मेज़ के तीनों तरफ़ लगा दीं। दीवार की तरफ़ बैंच को साफ़ कर दिया। निगम चुपचाप बाहर आकर सिगरेट पीने लगा। जब आले में उसे सिगरेट का पैकेट दीख गया तो हाथ बढ़ाकर उसे उठाया और बाहर छजली पर इस तरह आ गया जैसे दूकान ठीक करने से उड़ने वाले धूल-धक्कड़ से परेशान होकर बचने को आ गया हो। लेकिन उस पैकेट में एक ही सिगरेट थी। अत्यन्त गहन चिन्तन की मुद्रा में, दोनों हाथों को पाजामेनुमा पतलून की जेबों में ठूँसे, सिर झुकाए वह छजली पर घूमता रहा।

रद्दी कागज़ की सहायता से बिस्सो बाबू ने अँगीठी सुलगा ली थी, उसमें से खूब धुआँ निकलने लगा था। अंगीठी सुलगती रही और वह मेज-कुरसी की धूल झाड़ता रहा, फिर वह टीन के टुकड़े से फटाफट अंगीठी धौंकने लगा। जब धूल और धुआँ दोनों कम हो गए, तो निगम पुनः नमूदार हुआ।

"अमाँ बिस्सो बाबू, आज तुम्हारा सोभा नहीं दिखाई दे रहा। न हो

तो निगम ही लपककर ले आए दूध—कहाँ है गिलास?" निगम बैठ गया।

"सोभा साला भाग गया!" पानी भर लाने के लिए नीचे झुककर बाल्टी उठाते हुए बिस्सो बाबू ने कहा।

"भाग गया! कुछ ले तो नहीं गया?" निगम ने चौंककर पूछा।

"जब भागना ही है तो कोई चीज़ छोड़े ही क्यों?" खिसियानी-सी हँसी बिस्सो के स्वर में झनक उठी—"निगम सा'ब, उसने कोई चीज़ नहीं छोड़ी! अभी तो आकर मैंने देखा है।"

"ऐं!" निगम ज़रा उत्तेजित हुआ—"और तुम यों ही बैठे हो चुपचाप!"

"तो क्या सारे बाज़ार में गाता फिरूं?" एकदम बिस्सो के दिमाग़ में आया, कहीं यही महाशय तो सुबह सफ़ाया नहीं कर ले गए? वरना उन्हें क्या मालूम कि दूकान खुली है? वह बाल्टी लेकर पानी भरने जाते हुए एकदम रुक गया। उसने मुड़कर देखा।

"पुलिस में रिपोर्ट करो। अपने-आप बँधा-बँधा फिरेगा।"

"हुँ, ले गया होगा मुश्किल से बीस-पच्चीस की चीज़ें और पुलिस वाले पचास रुपये झटक लेंगे।" और वह बिना उत्तर की राह देखे नल से पानी भर लाने चला गया। नहीं, निगम नहीं कर सकता, जब से १०९ में पकड़ा गया है तब से रात में निकलता ही नहीं है, दिन-दहाड़े ले जाने की हिम्मत नहीं है।

नियमानुसार निगम ने चीनी के डिब्बे से दो फंकियां लगाईं और मुँह पोंछते हुए अपनी जगह इस तरह आ बैठा जैसे कुछ हुआ ही नहीं। बाल्टी लाकर बिस्सो बाबू ने केतली चढ़ा दी और दूध का नीचे रखा हुआ गिलास उठाकर खुद दूध लेने चला।

"अरे, तुम क्यों जा रहे हो, लाओ इधर लाओ!" निगम ने उसी तरह बिना ज़रा भी उठने की इच्छा दिखाये हुए या हिले-डुले सिगरेट फूंकते हुए कहा। फिर एकदम विषय बदलकर बोला, "सोभा भाग गया, अरे बिस्सो बाबू, निगम जो कह दे उसे पत्थर की लकीर समझना।

निगम तो पहले कह सकता था कि वह रहने वाला आदमी था ही नहीं। लाओ, लाओ न !"

"नहीं निगम साहब, तुम आधा पीकर इसमें पानी भर लाओगे, और इसी दूध की वजह से सुबह-ही-सुबह आज बीवी से लड़ाई हो गई।" बिस्सो के स्वर में कड़वाहट थी। कुछ सोचता-सा वह उतरकर चला गया।

"तुम भी यार, उस बेचारी से हर समय लड़ते रहते हो।" उसकी पीठ को सुनाकर निगम ने कहा और मुंह से धुआं निकालते हुए फिर एक बार चीनी के डिब्बे की ओर देखा। बिस्सो बाबू की बात का उसके ऊपर कोई असर नहीं पड़ा था।

तभी काठ की सीढ़ी पर पाँव रखा जसवन्त ने।

"हलो-हलो, जसवन्त बाबू, निगम साहब तुम्हारी कितनी देर से राह देख रहे हैं, आओ।" सामने से आते जसवन्त की बगल से सिगरेट का टोंटा फेंकते हुए दोनों हाथ फैलाकर निगम ने उसका स्वागत किया।

"हां यार, ज़रा देर हो गई।"

"तुमने तो कह दिया देर हो गई और निगम साहब तुम्हारे इन्तज़ार में सूख-सूखकर हाथी रह गए।" निगम पूर्वतः बैठ गया, फिर ज़रा धीरे से बोला, "कोई केक-वेक रखा हो तो देखियो, एकाध निगाह से चूक गया हो, उस सोभा की से।"

"आज तो कुछ भी नहीं है।" इधर-उधर झांककर जसवन्त ने हाथ का पंजा नकारात्मक ढंग से हिलाया, "सब मर्तबान भी खाली हैं, दूकान कुछ खाली-खाली-सी लगती है।" फिर हाथ की दो फटी-फटाई-सी किताबें ज़ोर से मेज़ पर पटककर धम् से लोहे के मूढ़े पर बैठ गया।

"आज तो यार, बिस्सो बाबू की हजामत सोभा कर गया, ऐसी झाड़ू लगाई है कि कुछ नहीं छोड़ा।" निगम बोला, फिर दूध लेकर आते बिस्सो को सुनाकर कहा, "कुछ हो यार, यह बिस्सो है सीधा आदमी।"

"जी हाँ, विस्सो बाबू सीधा तो है ही, तीस-तीस रुपये की चाय जो उधार कर चुका है न ! साफ़ सुन लो निगम साहब, और जसवंत बाबू तुम भी, एक बूँद चाय की नहीं दूँगा, आज।" विस्सो अपनी टूटी मेज़ के काउण्टर पर आ खड़ा हुआ। पास ही चढ़ी केतली में पुड़िया से निकालकर चाय डालने लगा।

"अमाँ विस्सो बाबू, आर्टिस्ट लोगों से जब तुम यों दिल फटने की बातें करते हो, तो ईमान से हलफ उठाकर कहता हूँ कि खुदकशी कर लेने को जी चाहता है। अरे, एक प्रोग्राम लगने दो कहीं, निगम तो सब चुका देगा, सब एक साथ। अब तुम्हारा एक साला शहर भी तो ऐसा है, साले में एक रेडियो भी तो नहीं है। फिर भी यह याद रखो, निगम किसी का अहसान नहीं रखता।" निगम अत्यन्त ही बेबाकी से बोला। उसने जसवंत को आँख मारी।

"नहीं विस्सो बाबू, तुम दो चाय दो, मैं तुम्हें दूँगा सारे पैसे।" जसवंत ने कहा।

"नक़द ?" विस्सो बाबू ने घूरा।

"जी, बिलकुल नक़द, लो पेशगी।" और उसने जेब से चवन्नी निकालकर बड़े अन्दाज़ से उसकी ओर फेंक दी। और उस ओर से ऐसे आँख फेर ली जैसे बैरे को टिप दे दी हो।

"अच्छा।" इतनी देर बाद विस्सो मुस्कराया—"आज तो गहरे में हो, कहाँ हाथ मारा ? किसी की साइकिल उड़ा दी या किसी का हिस्सा मिला ?"

"सब तुम्हारी ही तरह हैं न ! अरे लाख बेकार हों, कुछ-न-कुछ करते ही हैं। ट्यूशन के मिले हैं, जाते हैं एक जगह सितार सिखाने—हफ्ते में दो बार।" रोब से जसवंत ने कहा और वह कमीज़ से अपना चश्मा पोंछने लगा।

"तब तो दोस्त, अपने हिसाब से भी कुछ दिला दो, पैंतीस हैं, पाँच ही सही। कसम से, बड़ी ज़रूरत में हूँ। एक वह रखा था सोचा, सोचा-

सादा समझकर, सो साला सब चौपट कर गया।" बिस्सो के स्वर में प्रार्थना आ गई, चाय तैयार करके दो कप उनके सामने रखते हुए कहा। एक गिलास अपने लिए उसने नहीं बनाई। मन में बड़ी कड़वाहट थी, इच्छा ही नहीं हुई।

"इस वक्त नहीं, दे दूँगा बिस्सो बाबू, जल्दी ही।"

"तुम्हारी जल्दी को तीन महीने तो हो गए।" वह मुरझा गया।

जसवंत और निगम एक-दूसरे की आँखों में देखते हुए चाय पीने लगे। दोनों प्लेट में डाल-डालकर पीते रहे। बिस्सो चुपचाप खड़ा सोचता रहा। उसने फिर कुछ नहीं कहा। चवन्नी कान में लगा ली। कहीं दूर देखता रहा। लोगों के लिए जीवन आशीर्वाद बनकर आता है, उसके लिए तो जैसे विषैले धुएँ के बादल की तरह घिर उठा है। कितने दिन हो गए उसे, जब से वह सिर्फ़ बीते हुए कल और आज की मशीन बनकर रह गया है। उसे फ़ुरसत ही नहीं मिल सकी कि सिर उठाकर आने वाले कल को देख सके। आज वह व्यर्थ ही अन्ना से बुरी तरह पेश आया। पता नहीं क्यों, उसे इतनी जल्दी क्रोध आ जाता है। ज़रा वह अपने को दबा नहीं सकता। ज़िन्दगी में आज के अपराध को वह कभी नहीं भुला सकेगा....कभी नहीं। पता नहीं कहाँ लगी होगी। धकेल दिया...क्रूर, नीच....। अमल को कहाँ लगी होगी जाने! वह मुझसे ग़लत क्या कह रही थी आख़िर? वह भी बेचारी कब तक चुप रहे? इस अँधेरे का तो शायद कहीं छोर नहीं, कोई सिरा, कोई अन्त नहीं है। वह आने वाले कल के उजाले के लिए कसमसाती है, तड़पती है, और जब कोई आशा नहीं देखती तो चीख़ उठती है। और वह इस इच्छा को दबा देता है, घोट लेता है, कुचल देता है। पता नहीं यह रोशनी कहाँ है? कौन हिरण्यकशिपु उसे धरती की तरह ले गया है—हिरण्यकशिपु....और बैठे-ठाले यह सोभा आ मरा...

"अरे भाई, ये सारी बातें फिर कभी सोच लेना। कब के हम तुम्हें सिगरेट दे रहे हैं बिस्सो बाबू!" जसवंत ने कहा तो वह चौंका। उसके

हाथ से सिगरेट ले ली। देखकर बोला, "ओहो कैप्सटन है, यार आज तो मामला कुछ ऊंचा है, तुम चाहे बताओ मत।" कागज़ के एक टुकड़े को अँगीठी में लगाकर उसने सिगरेट जलाई। कश खींचकर बोला, "आज तो यार अपनी किस्मत खुल गई, मास्टर जसवन्त ने सिगरेट पिलाई है।" हाथ हिलाकर उसने जलता कागज़ बुझाकर फेंक दिया।

"अच्छा बिस्सो बाबू, अब चले, थोड़ी देर में आएँगे।" जसवन्त और निगम सिगरेट फूंकते चले गये। बिस्सो अपनी कॉपी उठाकर देखने लगा जो 'उधार-उधार' से भर गई थी।

तभी रैस्टराँ में झांकता हुआ किशोरी सड़क से जाता दिखाई दिया।

"अरे किशोरी भाई, सुनो तो, तुम्हें देखे तो बरसों हो गए।" चौंककर बिस्सो ने पुकारा।

किशोरी ने भीतर प्रवेश किया, वह जैसे किसी को खोज रहा था। घुसते ही बोला, "बिस्सो बाबू, जसवन्त कहाँ है?"

"जसवन्त? जसवन्त से तुम्हारा क्या? अभी तो गया है। तुम हमारा एक काम करो यार, यह लो चवन्नी और यह गिलास। चवन्नी का दूध ज़रा हमारे घर दे आओ।"

"दूध तो मैं दे आऊँगा, तुम यह बताओ, जसवन्त तो नहीं लाया कुछ यहाँ?" उसने घबराकर पूछा।

"कुछ? कुछ क्या? वह तो किताबें लेकर आया था, सो चला गया।" उसने चवन्नी को गिलास में डालकर उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा।

"ये अच्छा रहा, वह मेरा यार मुझे एक अण्डी की चादर दिलाने वाला था, निगम और वह कल मुझसे रुपये लाए हैं।"

"हैं!" बिस्सो बाबू ने उसे देखा और ज़ोर से हँस पड़ा, "तो दोस्त तुम फँसे, तभी तो मैं सोच रहा था कि ये रुपये आए कहाँ से। चाय के पैसे उसने ज़िन्दगी में कभी दिये नहीं, कैप्सटन सिगरेट।" उसने उँगलियों

के बीच में दबी सिगरेट दिखाई और धुआँ निगलकर बोला, "जाओ हाथ धो लो उन रुपयों से।"

किशोरी की आँखें फटी रह गईं और वह रुँआसा हो आया—"मुझे कुल तीस रुपये महीने-भर में मिलते हैं। उस निगम ने कहा था कि बहुत बढ़िया चादर है। बस ज़रा इस्तेमाल की हुई है। जसवन्त के पास है, दस रुपये में दिला दूँगा। चादर उसने दिखाई भी थी।"

"वह चादर भी उड़ा लाया होगा कहीं से।" बिस्सो बोला, "अच्छा ज़रा ठहर, अभी जसवन्त आता होगा तब पूछूँगा तेरे सामने ही।"

कृतज्ञता के बोझ से दबा हुआ किशोरी गिलास लेकर चला गया। चवन्नी देते हुए एक बार बिस्सो का हाथ काँपा—क्या पता दूध भी यह घर देकर आयेगा या नहीं! उसे एक क्षण ऐसा लगा जैसे इस युग में, समाज में वह एक विचित्र तरह का आदमी है, जो अपने-आपको हर जगह अनफिट पाता है, जो आउट-आफ़-डेट है—इन सबके बीच में एक अपरिचित। हर आदमी सिर्फ अपनी ही बात सोचता है, एक इंच दूसरे की नहीं सोचता, न ही सोचना चाहता। वही क्यों दूसरों की बातें सोचता है, क्यों उसके भीतर यह कमज़ोरी है कि वह आदर्श और नैतिकता जैसी चीजों को छाती से चिपकाए हुए है? आखिर यह बुराई और भलाई, आदर्श और नैतिकता सब सापेक्ष चीज़ें ही तो हैं—सब चीज़ें अपने ही लिए तो हैं।

और वह अनमना-सा अपना काम करता रहा। शर्माजी आये, रेखा और नीलाम्बर आये, कपूर और और गोस्वामी आये। सुबह के हर ग्राहक ने जब कुछ खाने की चीजें माँगी तो उसने अत्यन्त ही भरे स्वर में मना कर दिया कि ये सब चीजें खत्म हो गई हैं और दे जाने वाला अभी आया ही नहीं है। वह उल्टी-सीधी बातें सोचता रहा—घर की बात, किशोरी की बात, अपने आस-पास की बात। कभी-कभी आने वालों की कोई बात उसके ध्यान को भंग कर देती, फिर वह अपने में डूब जाता, नहीं तो मशीन की तरह काम किये जाता।

जसवन्त चुपचाप आकर बैठ गया।

"देखो जसवन्त, यह हरकत तुम्हारी निहायत ही खराब है। तुम्हें कोई और नहीं मिला, तुमने उस बेचारे किशोरी को दस रुपये से मार दिया। मैं यार, तुमसे इसीलिए डरता हूँ। आज का दिन खाली नहीं जाने दिया न !"

"मैंने ? कौन कहता है ?" जसवन्त तेज़ी से बोला, "मैंने उससे कुछ भी नहीं लिया, मुझे पता भी नहीं। कुछ कहने के पहले पता लगा लिया करो बिस्सो बाबू !"

"किशोरी ख़ुद कह रहा था। तुमने कोई चादर देने का वायदा किया था—निगम ने और तुमने ?"

"हाँ, चादर देने का वायदा किया था निगम ने, उसे ही मालूम होगा। रुपये उसी ने लिये होंगे—वह साला बदमाश ! मुझे उससे क्या ?" जसवन्त जैसे उठकर खड़ा हो गया।

"तुमने नहीं लिये ?" बिस्सो ने ज़रा तेज़ पड़कर पूछा।

"नहीं।" दृढ़ता से वह बोला, "तुम साबित करो।" फिर लापरवाही से कहा, "लिये होंगे, तो उस निगम ने लिये होंगे, चादर भी तो मेरे पास रखी है, रुपये कहाँ से ले लेता ?"

"निगम कहाँ है ?" बिस्सो ने दरोगा की तरह पड़ताल की। वह उसके सामने आ बैठा।

"मुझे नहीं मालूम, मेरे सामने तो चौराहे से पान खाकर चला गया था।" जसवन्त बेंच और मेज के बीच से तिरछा होकर निकलने लगा।

"ख़ैर, पता तो लग ही जायगा जसवन्त बाबू, लेकिन कहे देता हूँ—ऐसी कोई बात हुई तो दूकान में फटकने नहीं दूँगा।"

जसवन्त ने कोई उत्तर नहीं दिया, उसकी भवें तन गईं। चुपचाप उतर गया, केवल एक बार उपेक्षा से मुँह हिलाकर। बिस्सो जानता था कि वह कहीं नहीं जायगा, अभी घूम-फिरकर अधिक-से-अधिक

आध घंटे में आ जायगा। यही उसकी आदत थी।

निगम को उसने दरवाज़े पर देखते ही कहा, "निगम साहब, रुपये दिलवाओ। यार ग़रीब-अमीर तो सोचा करो। किशोरी को तीस रुपये कुल तनख्वाह मिलती है, उसमें से दस तुमने झटक लिए।"

अपनी बेंच को लक्ष्य करके चला जाता निगम एकदम चौंककर पलटा, "रुपये ?"

"बनो मत निगम साहब ?" बिस्सो ने सिर हिलाया।

"कैसे किशोरी के रुपये ? निगम को क्या मालूम ?" निगम बड़े ठाठ से बैठ गया।

"उड़ो मत, उड़ो मत निगम साहब, मुझे सब मालूम है।" निगम के हाथ से बीड़ी लेकर खुद पीते हुए उसने कहा।

"बिस्सो बाबू, तुमने कुछ नशा तो नहीं कर लिया ? सुबह से कुछ अजब बहकी-बहकी बातें कर रहे हो। आज यह चक्कर क्या है ? तुम खुद सोचो, खरीदार किशोरी, चीज़ जसवन्त की, फिर उसमें दाल-भात में मूसलचन्द निगम कहाँ से आ मरा ?"

"ये सब बातें तो यार उससे कहना जो तुम्हें जानता नहीं। तुमने सौदा पटवाया तो तुम्हारा हिस्सा न हो, यह मैं किसी हालत में नहीं मान सकता। जसवन्त खुद कह रहा था।" बिस्सो बाबू ने एक तरह से प्रार्थना की, "दे दो यार, क्यों तंग कर रहे हो बेचारे को ?"

"जसवन्त खुद कह रहा था ?" निगम का ढीला-ढाला शरीर एकदम तनकर बैठ गया, "साला, जसवन्त, बदमाश। अब साफ़ बता दूँ तुम्हें, खुद हरामज़ादा सब रुपये लिये बैठा है, दूसरों पर इलज़ाम लगाता है, सुअर ! निगम खुद उससे रुपये लेने को भटक रहा है। निगम से पूछो उसकी पोल, दसियों साइकिलें इधर-से-उधर कर चुका है, वरना ये नवशे सब चलते कहाँ से हैं !"

"तो तुम्हें नहीं मालूम ?" बड़े आश्चर्य से बिस्सो ने पूछा। वह चकित था—"मुझसे तो भाई जसवन्त ने ही कहा है।"

"यों कहने से कुछ नहीं होता, निगम के सामने पुछवाओ, मुँह पर। बाद में तो राजा के बारे में भी लोग उड़ाते हैं। कोई जबान तो रोकता नहीं है किसी की।" निगम कड़का।

"मुँह पर पुछवा दूँ, अगर बात सच हुई तो क्या जुरमाना दोगे?" बिस्सो ने भी तेज़ी से कहा।

"जुरमाना?" निगम ज़रा ढीला पड़ गया—"जो तुम्हारे मन में आए सो करना। हाँ उसके चाय-सिगरेट का गुनहगार तो निगम ज़रूर है, उसे हिस्सा समझ लो या कुछ और।"

"तो फिर इतना तेज़ क्यों पड़ते हो, अभी सब पता चला जाता है। जसवंत आ ही रहा होगा। तुम्हें तो पता होगा ही, कहाँ गया है।"

"निगम से मतलब? चौराहे के बाद पता नहीं किधर निकल गया। निगम लगा फिरता है, उस लफ़ंगे के साथ? जिधर मुँह उठा चल दिया, अपना धन्धा-पानी करने गया होगा। बैंक या राशनिंग दफ़्तर में।" निगम बोला, फिर दाँतों से नाखून कुतरते हुए बड़बड़ाया—"इस तरह से बदनाम करेगा तो निगम साले से बात नहीं करेगा, आगे से।"

"तुम क़सम से कहते हो?" बिस्सो ने फिर पूछा।

"निगम के हाथ में यह अग्नि है। उसने बीड़ी दिखाई और उसका गुल झाड़ दिया। दोनों टाँगों को उठाकर उसने मेज़ पर फैला दिया, और पीछे पीठ टिकाकर अधखुली आँखों से बीड़ी फूँकने लगा, जैसे इन सब तुच्छ बातों से उसे कोई मतलब नहीं है।

"यार, तुम लोगों ने उस ग़रीब को मार डाला।" बिस्सो ने परेशानी से कहा—"अरे, ऐसे लोगों पर तो दया कर दिया करो।"

निगम फिर तड़पकर उठा झटके से—"यार बिस्सो, यही तो तुममें सबसे बुरी आदत है। किसी का विश्वास नहीं करते। निगम ज़बान से ही तो कह सकता है, सिर काटकर तो रख ही नहीं सकता। इससे ज्यादा निगम क्या अपनी जान निकालकर रख दे कि बैठा है, आगे

दो जसवंत को भी, अभी मुक़ाबला हुआ जाता है।" वह फिर अपनी पहली वाली स्थिति में हो गया, और स्वतः कथन के रूप में बोला—"लुच्चे, साले, बदनामी करते फिरते हैं। किसी भले आदमी को रहने नहीं देंगे दुनिया में।"

बिस्सो चुपचाप बैठा रहा। फिर अपनी अलग बीड़ी अँगीठी से जलाकर दरवाज़े पर खड़ा होकर सड़क को देखने लगा। भूरेलाल कंघे और कैंची फटकारते हुए किसी के बाल बना रहे थे। कैंची और ज़बान साथ, समान गति से चल रही थीं। कभी-कभी कैंची को पिछड़ना पड़ता था और हाथ रोककर वे अपनी बात सुनाने लगते थे। वहीं खड़े-खड़े उसने कहा—"अच्छा निगम साहब, एक काम करो, उन दूकान बन्द करने वाले तख़्तों के पीछे चले जाओ। जसवंत आ रहा है। मैं तुम्हारे सामने कहलवाए देता हूँ।"

"निगम क्या किसी से डरता है?" और निगम सचमुच एक ओर रखे दूकान बन्द करने वाले तख़्तों के पीछे जा बैठा।

"अबे, वहाँ तो बीड़ी मत पी, धुएँ से समझ जायगा।" बिस्सो ने धीमे से घुड़का।

निगम ने बीड़ी घिसकर बुझा दी।

जसवंत को देखकर बिस्सो ने कहा—"कहो जसवंत बाबू, कहाँ की विज़िट दे आये?"

जसवंत सिर झुकाए सुस्त और उदास चला आ रहा था—"विज़िट को कहाँ विलायत जाना था, वही रोड इन्स्पैक्टरी कर आए, सड़कों को नापना।" निराश स्वर में जसवंत ने कहा, और उसकी बगल से निकलकर भीतर आ बैठा। बिस्सो दरवाज़े पर ही खड़ा था। भीतर की तरफ़ मुड़ आया। जसवंत ने एकदम सिर झटके से उठाकर कहा, "बिस्सो, एक कप चाय नहीं पिलाओगे?"

"भाई कुछ तो रहम करो मुझ पर। आख़िर मैं भी तो कहीं से खाऊँगा ही। तुम्हें मिलेगी पहली तनखा, तो मुझे पकड़ा नहीं दोगे।"

फिर एकदम विषय बदलकर बोला, "किशोरी बेचारे को तुमने पीस डाला न ?"

"मैंने ?" जसवंत तन गया, "सहने की अब हद हो गई है, बिस्सो बाबू ! आखिर तुम मेरे पीछे क्यों पड़े हो ? तुम्हारी ही एक दूकान ज़रा बैठने की जगह है सो कहो यहाँ भी न आया करूँ। रुपये निगम डकार गया, खींचातानी मुफ़्त में मेरी हो रही है।"

"यार अजब उलझन है। निगम कहता है रुपये तुम ले गए, तुम कहते हो निगम। रुपये आखिर क्या फ़रिश्ते ले गए ?" बिस्सो सिर खुजाने लगा।

फ़रिश्ते नहीं, बिस्सो बाबू, रुपये ले गया है वह, जिसने किशोरी से लिये हैं।" जसवंत बोला—"निगम, निगम, निगम। मैं उसके मुँह पर कहूँगा। बदमाश, साले, रैस्कल, डफ़...."

"निगम साहब का आदाबअर्ज़ लीजिए, जसवंत बाबू !" बड़े लखनवी ढंग से छाती के पास पंजा हिलाकर सलाम करते हुए चतुरता से मुस्कराता निगम तभी तख़्तों के पीछे से बाहर निकल आया, जैसे डिब्बा खोलते ही स्प्रिंग के सहारे दाढ़ीवाले बुड्ढे का खिलौना निकल आता है।

जसवंत एकदम फक् रह गया। उसका मुँह खुला और आँखें जैसे फटी रह गईं। सारी तेज़ी खत्म हो गई। फिर एकदम सँभलकर बोला, "तो जनाब यों छिपे हैं ! ये मेरे पीछे क्या पुछल्ला लगा दिया यार, साफ़ क्यों नहीं कह देते कि पाँच रुपये गटक गए हो।"

"अभी तो बिलकुल मुकर गए थे, अब पाँच पर आ गए।" निगम अपने पेटेण्ट स्थान बैंच पर आ जमा। विजेता की मुस्कान से उसका चेहरा खिला था।

बिस्सो आश्चर्य से दोनों के चेहरों की ओर देख रहा था। वह कल्पना कर रहा था कि दोनों में अब कुश्तमकुश्ता होगी। अब इस नाटक को देखकर बुरी तरह खिलखिलाकर हँस पड़ा—"अभी तो दोनों

एक-दूसरे को बुरी तरह गालियाँ दे रहे थे, कसमें खा रहे थे और अब मिलते ही मान गए कि उस बेचारे से छीनकर आधा-आधा खा गए हो।" फिर हँसना बंद करके बोला—"मैं तुम्हारी नस-नस जानता हूँ दोनों की। लाओ निकालो सारे पैसे बाएँ हाथ से। और जसवंत बाबू, वह चादरा किसका था जिसका सौदा हुआ था ?"

दोनों ने हारे हुए जुआरियों की तरह कुछ नोट और पैसे निकाल कर मेज़ पर रख दिए। बिस्सो गिनने लगा।

"अब छोड़ो भाई, यह किस्सा खत्म कर दो।" झेंपते हुए खुशामद के स्वर में जसवंत ने कहा और दोनों ने दो तरफ़ मुँह फेर लिया। एक बार आँखें मिलीं, लेकिन हँस दोनों में से कोई नहीं सका। बिस्सो गिनता रहा।

"लेकिन ये तो साढ़े नौ ही हैं ?" बिस्सो ने गिना, सिर उठाकर पूछा।

"तुम्हारे यहाँ चाय पी ली, सिगरेट और पान खा लिए। अभी सुबह ही तो लिये हैं।" जसवंत के स्वर में क्षमा-याचना ध्वनित हो रही थी।

"अच्छा खैर, लेकिन दोस्त, घरवालों को निशाना मत बनाया करो।" और उसने पैसे स्वेटर के नीचे जेब में डाल लिए। अँगीठी के पास आ गये।

तीनों चुप थे। निगम बैंच पर दीवार से पीठ टिकाकर बैठा काली छत ताक रहा था। लोहे के मूढ़े पर बैठा जसवंत दोनों कुहनियाँ मेज़ पर टिकाए, हथेलियों पर ठोड़ी रखे, पपड़ाए होंठों पर उँगली सहलाता एकटक मेज़ को देख रहा था। केतली चढ़ाकर बिस्सो बाबू चुपचाप कान कुरेद रहा था। दोनों इस तरह चुप थे जैसे वर्षों से कोई किसी से नहीं बोला हो, जैसे वे युगों से इसी तरह बैठे सोचते रहे हों। पहले बिस्सो थोड़ी देर तो उन दोनों की चालाकियों पर मन-ही-मन हँसता रहा। लेकिन जैसे-जैसे क्षण-पर-क्षण बीतते जाते, वह कभी-कभी आँख

उठाकर देख लेता, और उसके हृदय में इन दोनों के प्रति न जाने क्यों एक अनजान करुणा, कोमलता और ममता उमड़ती चली आ रही थी कि नासमझ बच्चों की तरह दोनों को छाती से लगाकर समझा दे, उनके आँसुओं को पोंछ दे। वे बेचारे भी आखिर करें क्या? आखिर कब तक बेकारी और नैतिकता के संघर्ष को सहते रहें? यदि वास्तव में किशोरी से उसका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध न होता तो वह फिर सारे पैसे उन्हें वापस लौटा देता...

एक गहरी साँस लेकर अचानक जसवन्त उठा, "अच्छा बिस्सो बाबू, चले अब।"

"बैठो, तुम्हारे लिए चाय बन रही है।" कुछ स्नेह की आत्मीयता से उसने कहा।

"पैसे नहीं हैं।" जसवन्त का स्वर बड़ा निरीह था। निगम ने वहीं लेटे हुए गरदन घुमाकर उधर देखा। उसकी आँखों में कातर द्रवता उतर आई थी।

"देखी जायगी।" उसने तीन कप का पानी छान दिया, लेकिन अचानक उसे कुछ याद आ गया और एक कप वापस केतली में उलट दिया। दो कप चाय बनाकर दोनों के सामने रख दी। निगम सीधा हो गया। दोनों प्लेटों में कर-करके पीने लगे। बिस्सो बाबू खड़ा बीड़ी पीता रहा।

क्या चूहे-बिल्ली का-सा खेल है, जरा चूके तो गए। कोड़ा जमालशाही खेल में पकड़ लिये गए तो हार गए, नहीं तो दाँव चल ही रहा है—आखिरी दम तक। हँसी भी आती है और झुँझलाहट भी। तभी एक कल्पना बिस्सो बाबू के मन में स्वतः साकार हो उठी। सरकस में शेर-चीतों के साथ खेलने वाले की स्थिति में वह रह रहा है। कितना खतरनाक खेल होता है वह! उन खौफ़नाक जानवरों का ज़रा भी ऐसा-वैसा रुख देखा कि शांय से हंटर फुफकारा—घात लग गई तो 'लैग-गार्ड्स' पर दांत मार दिए, वरना पालतू कुत्तों की तरह घूमने

रहे। ये सब क्या हैं, कौन हैं, जिनके बीच में वह रहता है—वह ज़रा-सा चूक जाय तो बोटी-बोटी नोच ले जायँ, नहीं तो अपनी कोई हरकत पकड़े जाने का ग़म नहीं, शरम नहीं—फिर लगेगा दाँव! एक तो कर गया चोट! और बिस्सो बाबू इनमें से किसे नहीं जानता? निगम को नहीं जानता? जसवन्त को नहीं जानता? कक्कड़ को नहीं जानता? और हर समय होने वाला द्वन्द्व उसके मन में फिर जाग उठा, इन सबको एक ही बार मना कर दे, उसकी दूकान बदनाम होती है। उसे याद आया, उसके दोस्त मिस्त्री ने कहा था, 'ऐसे लोगों को तुमने नहीं रोका बिस्सो, तो देख लेना कोई भला आदमी फटकेगा नहीं।' इनमें से हर आदमी कब वारण्टी हो जायगा, कोई नहीं जानता। किसी ने भी उसका नाम झूठे को ही ले लिया तो पुलिस वाले नाक में दम कर मारेंगे। उन्हें तो बस बहाना चाहिए। लेकिन फिर उसकी दूकान चले कैसे? ग्राहक कौन हो? यही तो दो-चार लोग हैं, कुछ-न-कुछ तो चुका ही देते हैं।

"अच्छा बिस्सो बाबू, माफ़ करना आज की ग़लती को।" निगम ने दाँत निपोरकर कहा और दोनों सिर झुकाए पिटे-से बाहर निकल गए।

बिस्सो बाबू हिसाब लिखने लगा।

"बिस्सो बाबू, मेरे पैसों का क्या हुआ?" एकदम आते ही किशोरी ने पूछा।

"पैसे रखे हैं अब।" बिस्सो ने कुटिलता से उसकी ओर देखकर कहा—"दोनों खा-पी गए अब बेटा, ठंडक में सोओ जाकर।"

किशोरी का उतरा हुआ चेहरा और मुरझा गया। सिर झुका लिया, "बिस्सो बाबू, मैं मर जाऊँगा। मैंने चादरे के लिए इसलिए दे दिये थे कि रात को ओढ़-बिछा लूँगा उसे—दिन में बदन पर लपेट लिया, सारे कपड़ों का काम देगा।" आगे उसका स्वर घुट गया।

"ले, पहले तो दे मरा, अब रोता क्यों है? ख़बरदार जो अब

बिना पूछे किसी को कुछ दिया।" बिस्सो बाबू स्वेटर के नीचे हाथ डालकर जेब से पैसे निकालने लगा। दोनों की बातों का ध्यान कर उसके चेहरे पर मुस्कान आ गई।

"सब, पूरे?" उमंग कर एकदम किशोरी ने पूछा, उसकी आँखें जैसे चमक उठीं—"बिस्सो बाबू, तुमने मुझे बचा लिया।"

बिस्सो का जेब से पैसे निकालता हुआ हाथ वहीं रुक गया। उसने एक क्षण किशोरी की उसके प्रति कृतज्ञता और विश्वास से चमकती हुई आँखों में देखा, उत्सुक मुख-मुद्रा को देखा, और उसके मुँह से निकल गया—"हाँ, सब। लेकिन बताए देता हूँ, आज से फिर किसी के चक्कर में नहीं पड़ूँगा।" बिस्सो उस घटना का खूब रस लेकर नाटकीय वर्णन सुनाने जा रहा था, लेकिन अब चुप हो गया। अपने पैसों में से मिलाकर उसने पूरे दस रुपये किशोरी के हाथ पर रख दिए—आज दोपहर की कमाई सहित। उसकी जेब में अब दो पैसे शेष थे, लेकिन चेहरे पर बड़प्पन था। उसने कहा, "बड़ी देर लगा ली, जरा देर पहले आता तो बड़ा मजेदार तमाशा दिखाता।"

बड़ी उत्सुकता और प्रसन्नता से किशोरी ने पैसे गिनकर जेब में रख लिए, फिर जैसे उससे सहानुभूति दिखाते हुए बोला—"बिस्सो बाबू, भाभी से तुम लड़ आए हो, क्यों? पहले दूध लेती ही नहीं थी, बड़ी मुश्किल से लिया, रो पड़ी। वहीं तो लग गई इतनी देर।"

दो घाघों से रुपये निकलवा लेने की सारी प्रसन्नता और किशोरी को बचाकर सहायता करने का सारा बड़प्पन जैसे एक ही झटके से उड़ गया। बिस्सो बाबू एकदम सुस्त हो गया—अन्ना के प्रति आज का व्यवहार! ज़रूर घर में वह भूखी बैठी होगी, और यहाँ जान-बूझकर उसने भी तो चाय की एक बूंद गले से नीचे नहीं जाने दी है। वह बेचारी कह क्या रही थी—यही तो कह रही थी सिर्फ कि इस ढाई आने से अमल के लिए दूध आएगा! उसने समझाना चाहा था कि अगर इन पैसों का अमल के लिए दूध आ गया तो आज का दूकान का काम कैसे

चलेगा ? सुबह ही जो दो-चार ग्राहक आते हैं, देर हो गई तो लौट जायँगे। इसलिए अच्छा हो कि वह उसे जाने दे, और पैसे आते ही अभी वह दो मिनट में दूध भेजता है। पर अन्ना को जैसे ज़िद आ गई थी कि नहीं, दूकान चाहे चले, या न चले, इसका तो अमल को दूध ही आएगा। काफ़ी देर वाद-विवाद हुआ और आखिर दूकान को देर हो जाने की झुंझलाहट से वह उसे ज़ोर से धकेलकर दूकान की ओर चला आया था। और अब दिन-भर की कमाई किशोरी को पकड़ा दी !

कातर करुणा का एक फ़व्वारा-सा जैसे उसके भीतर फूट पड़ने को मचल पड़ा। एक धुन्ध और धुआँ। सोभा जो कुछ ले गया है, उसका नुकसान फिर उसकी आँखों के आगे कभी न पूरी की जा सकने वाली कमी की तरह लगा। उसे लगा—इन मुसीबतों और उलझनों से वह पार नहीं पा सकेगा, नहीं पा सकेगा, और एक दिन यों ही अनजान-सा साँस तोड़ देगा।

बिना किशोरी की बात का जवाब दिये वह शो केस इत्यादि बाहर से उठा-उठाकर भीतर रखने लगा। बिना बोले ही किशोरी ने भी सहायता कराई। सब सामान उलटा-सीधा रखकर दो लोटे पानी अँगीठी में डाला। जल्दी से दूकान के तख्ते लगाए और किशोरी को वहीं छोड़कर चल दिया—निर्लक्ष्य···दिग्भ्रान्त-सा···निरुद्देश्य···

दो बूँदें



दो बुर्क़े

लम्बा सफ़र, थर्ड क्लास का डिब्बा। सुबह आठ बजे से गाड़ी चली आ रही थी, और अब रात के दस बज रहे थे। प्रत्येक स्टेशन पर वही निश्चित आवाज़ें, उतरना-चढ़ना। 'कहिए कहाँ से आ रहे हैं?' 'भाई साहब, ज़रा सरकना उधर।' 'ऐ पूरी वाले, ज़रा इधर सुनना।' मन बुरी तरह ऊब गया था, और अब प्रबल इच्छा हो रही थी कि कुछ परिवर्तन हो, कुछ नया आए। दिन-भर ऊपर की सीट पर जाकर सोया, भीतर झांका, बाहर झांका। सबके चेहरे देखे। कोई नई बात नहीं। इच्छा हुई, काश एकाध लड़की—स्त्री ही चढ़ आती तो शायद इस एकरसता में कुछ परिवर्तन होता! पर डिब्बा लम्बा था और वह सबसे गहरे में बैठा था। वहाँ तक कोई आ नहीं पाता था। हरेक स्टेशन पर उधर ही दरवाज़े की तरफ कोई उतरता। मन बुरी तरह व्याकुल हो रहा था और वह थक गया था।

भोपाल स्टेशन आया।

तभी वह चौंककर ज़रा सँभला। दो रेशमी बुर्के वाली स्त्रियाँ उसकी सीट की ओर बढ़ी चली आ रही थीं। बुर्के बढ़िया काले साटन के थे और ऊपर के पंखों की हवा और बिजली की रोशनी में झलमला रहे थे, जैसे चाँदनी रात में जमुना का पानी। एकदम मुँह की ओर देखा आगे वाली स्त्री ने। बुर्के के सामने वाला परदा उलटकर सिर पर डाल दिया था। ओफ़, कैसा चाँद-सा अँधेरे की परतों में चमचमा रहा था—कह नहीं सकता! उसे लगा कि वह युग-युग तक इसे यों ही देखता रहेगा। शायद उससे सुन्दर चेहरा उसने ज़िन्दगी में कभी भी नहीं देखा। लम्बी-लम्बी पलकें, सुती-सुथरी नाक, गुलाब की कली से ओंठ। हूर और अप्सराओं की कल्पना जैसे उसके सामने साकार हो उठी थी। वह बौखलाया हुआ-सा आँख और मुँह खोले उसे देखता रहा। एक क्षण को ऐसा लगा जैसे न जाने किस युग से और किस निर्जल रेगिस्तान में वह थका-प्यासा भटकता रहा है। और आज वह साक्षात् नखलिस्तान-सी उसकी दृष्टियों को विराम देने आ गई है। वह उसका स्वर सुनने को तरस उठा। दूसरा बुर्का अभी नहीं उठा था। बुर्के वाली के गोरे और मक्खन-जैसे हाथ बाहर दिखाई दे रहे थे। सोचा कहीं यह स्वप्न तो नहीं है, जहाँ उसकी कविता साकार हो उठी है। बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि वे उसके सामने बैठ जायँ और वह अपलक देखता रहे। आनन्द के उच्छ्वास से उसका हृदय पुलकित हो उठा। वह कल्पना करने लगा कि दूसरी कितनी सुन्दर होगी, क्योंकि उसका बुर्का अधिक कीमती और सुन्दर था। आगे वाली की अपेक्षा वह अधिक सुन्दर है, ऐसी कल्पना विश्वास का रूप धारण करके उसके हृदय में जमी जा रही थी। एक बार फिर उस खुले उन्मुक्त मुँह को देखा, वहाँ एक विचित्र हृदयस्पर्शी करुणा की छाप थी। लगा जैसे उसके हृदय की करुणा उसके मुँह पर अभिव्यक्त हो आई है। अचानक फिर निगाह पीछे वाले बुर्कापोश पर चली गई। आह! वह न जाने

कितनी सुन्दर रही होगी ! उसका बुर्क़ा अगली वाली की अपेक्षा अधिक कीमती था, उसके हाथ इसकी अपेक्षा अधिक सुडौल, सुन्दर और आकर्षक थे, उसका आकार अधिक सानुपातिक था। निश्चय ही वह उससे अधिक सुन्दरी है। लेकिन कम्बख़्त ने अपने मुँह पर परदा डाल रखा है। बड़ी प्रबल इच्छा हुई, अत्यन्त कोमल हाथों से वह उसका नक़ाब उठाकर पीछे डाल दे।

रास्ता अपने-आप निकलता आया। वे उसकी सीट के सामने आकर खड़ी हो गईं—आगे-पीछे। बिलकुल ऐसा लगा जैसे रेल का इंजन अपनी सर्च लाइट चमचमाता सामने आ खड़ा हुआ है, जिसकी ओर देखते हुए आँखें चौंधिया जाती हैं। पीछे कुली था।

"आप बड़े बदतमीज़ मालूम पड़ते हैं। दो घण्टे से लेडीज़ खड़ी हैं और आप हैं मस्त टाँगे फैलाए पड़े हैं।" वह बुरी तरह चौंक उठा, क्योंकि इस आवाज़ और शक्ल के प्रभाव में ज़रा भी तुलना नहीं। लेकिन इतनी तीखी कि कलेजे को चीरती चली जाय। और जब तक उसकी आवाज़ के इस अप्रत्याशित प्रहार से वह सँभले, धमाके से उन्होंने उसके बगल में कुली से अपना ढाई मन का बिस्तरा रखवा दिया। दो पुटलियाँ, दो झोले, पानदान, बरतनों की बोरी, सुराही, और भी न जाने क्या-क्या।

इस वास्तविकता से उसकी सारी भावुकता और रोमांस उड़ गया। बरतनों की बोरी, पुटलियाँ, बिस्तर रखने से उसका बिस्तर कुचल ही नहीं गया था, बुरी तरह गन्दा भी हो गया था, क्योंकि बाहर पानी बरस रहा था। वह झल्ला उठा—"यह भी कोई हरकत है ! कुली को डाँटा—"दिखाई नहीं देता, सारा बिस्तर गन्दा कर दिया !"

"तो हम लोग अपने सिर पर रख लें ? जहाँ जगह होगी वहीं तो सामान रखा जायगा।" वह गुर्राई और अपना सामान गिनने लगी।

"इसका मतलब यह तो नहीं कि आप मेरे सिर पर रख दें।"

"आपका सिर अगर सारे डिब्बे में फैला होगा तो वहाँ भी होगा,"

उसने निहायत वदतमीज़ी से उत्तर दिया। उत्तर सुनकर उसका चेहरा तमतमा आया, ऐसा गुस्सा आया कि खींचकर एक तमाचा दे गाल पर कि होश ठिकाने आ जायँ। बड़ी आई सिर की वच्ची ! दाँत पीसकर चुप रह गया—कोने में सिमटा हुआ-सा।

कुली पैसों की राह में खड़ा था। वे वार-वार खिड़की से वाहर झाँककर देख लेतीं, वड़वड़ा उठतीं कि वावूजी नहीं आये। काफी देर पश्चात् जब कुली से नहीं रहा गया तो उसने कह दिया—"वावूजी आते रहेंगे, मुझे तो पैसे दे दीजिए। और कुछ काम देखूँगा।" उसने आगे हाथ फैला दिया। उस स्त्री ने उसे ऐसे देखा जैसे आँखों से ही पीस देगी। फिर वड़े अहसान से वुर्के के भीतर से एक दुअन्नी निकालकर उसके हाथ पर रख दी।

कुली तमतमा गया, लौटाते हुए वोला—"अच्छा हो वीवीजी, इस दुअन्नी को भी आप ही रख लीजिए—इतना सामान···।"

"इतना सामान है तो तेरे नाम अपनी ज़ायदाद कर दें ?" उसने चीखकर कहा।

"ऐसी ही वात थी तो पहले ही तय कर लेतीं, वीवीजी !"

"औरतों से यह ज़वानदराज़ी करते तुझे शरम नहीं आ रही ! मक्कार, मरदूद !" उसकी पतली भौंहें तलवार की तरह लपक उठीं—"लेने हों तो ले जा, नहीं तो चला जा।" और उधर से विलकुल उपेक्षा का भाव दिखाकर उस विस्तरे पर वैठ गई। सामान ऊँचा था, जहाँ से उसकी कीचड़-सनी कामदार जूतियाँ उसके नये विस्तरवन्द तक लटकती थीं। पास ही उसने दूसरी को भी विठा लिया। सारा डिव्वा स्तव्ध उन्हें ही देख रहा था। आते ही कोहराम-सा उन्होंने मचा दिया था। उसकी उस भोली सुन्दरता और इस व्यवहार में तनिक भी समानता नहीं थी।

वुरी तरह का मुँह वनाकर वड़वड़ाता हुआ कुली चला गया। वह ऊपर वैठी निश्चित भाव से पानदान खोलकर खटर-खटर पान लगाने

लगी। उनके उस बिस्तरे-सामान से नीचे का होलडोल, भीतर के तकिया-चादर सब भीग रहे होंगे और उनकी कीचड़ में सनी जूतियों से उसके कपड़े खराब होने का भी अन्देशा था।

वह हिम्मत करके उठ खड़ा हुआ और साहस बटोरकर बोला—"आप लोग नीचे उतर जाइए तो मैं अपना बिस्तरा समेट लूं, बेकार गन्दा हो रहा है।"

"आप हमारे पीछे क्यों पड़े हैं ? तहज़ीब से बैठे रहिए। हम झगड़ा नहीं करना चाहतीं लेकिन तंग करेंगे, तो ठीक नहीं होगा।" उसने दृढ़ता और उद्दण्डता से कहा, फिर पान बनाने लगी।

उसके काटो तो शरीर में लहू नहीं। दूसरे सभी आदमी इस कैंची-सी ज़बान वाली औरत को देख रहे थे। तभी उसने देखा, साथ वाली दूसरी औरत ने भी अपना बुर्क़ा पलट दिया था और उस खूबसूरत, आकर्षक, रहस्यमय, कीमती-चमकदार बुर्के के पीछे, जिसके जादू ने सारे डिब्बे को मोह लिया था, एक निहायत ही बदशक्ल, चुंधी आंखों, चेचक के दागों वाले मुंह की भद्दी औरत का चेहरा निकल आया था।

सुन्दर परदा हट गया था और यथार्थ सामने था।

गाड़ी दौड़ रही थी।

वेटी का वाप



बेटी का बाप

इस बार भी कवि भास्कर नहीं गये।

व्यंग्य से हँसकर उन्होंने बुलाने के लिए आये हुए व्यक्ति से कहा—"जाओ, कह देना अपने सेठ से, कवि भास्कर इतना सस्ता नहीं है!" उनका चेहरा आत्म-सम्मान के तेज से दीप्त हो उठा—वह देश का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी कवि है, यह गर्व! यदि यह गर्व है तो उसे शोभा देता है।

नम्रता की प्रतिमूर्ति मैनेजर ने, जो ढीली लांगवाली धोती और कोट पहने था, हाथ जोड़कर विनती की, "महाराज, ऐसा थोड़े ही है, जो कुछ बन पड़ेगा पत्र-पुष्प आपकी सेवा में अर्पित होगा ही। इस बार आपको अपनी चरण-रज से कुटिया पवित्र करनी है।"

कवि हँसे। यह सामंत-कालीन सम्बोधन—महाराज! पहले मन हुआ भगा दें, हमें सेठों और साहूकारों से क्या मतलब? जिसे कविता ने

प्रेम होगा खुद आयेगा यहाँ। फिर भी उन्होंने तिरछे होंठों की हँसी से ज़रा परिहास से कह ही दिया—"जाओ, कह देना अपने सेठ से, एक बार के कष्ट करने के दस हज़ार रुपये लेता हूँ मैं, देगा वह?" और अपने एक भक्त द्वारा भेंट दिया गया स्टेट-ऐक्सप्रेस का डिब्बा निकलाकर सिगरेट निकाली और बड़े आत्मतोष से पीने लगे। उनके होंठों पर मुस्कराहट तिरछी होकर फैल गई—हूँ, खाली व्यापारिक नम्रता से जीतना चाहता है! कुछ खर्च भी नहीं और साहित्य-कला की सेवा भी हो जाय। हर जगह बचत देखता है—व्यवसायी है न!

और सचमुच इस बार सेठजी स्वयं आ-गए। ढीला-ढाला, बहुत बढ़िया गैवरडीन का जयपुरिया कोट, कढ़ी हुई दुपल्ली टोपी, अँगूठियों में जगमगाते नगों वाले हाथ जोड़ते, झुके-झुके वे कार से निकले और अत्यन्त ही श्रद्धा से नमस्कार करके बोले, "महाराज, कुटिया पर तो आपके चरण पड़ने ही हैं। आप देश के रत्न हैं, हमारा जन्म सफल हो जायगा।" वे बड़े झिझके-से खद्दर की चादर बिछे उस गद्दे के कोने पर बैठ गए, जहाँ मसनद लगाए कवि भास्कर दीवार से टिके बड़े अन्यमनस्क-से सिगरेट पी रहे थे। उन्होंने सुना, "यह तो हमारे नगर की परम्परा नहीं रही कि बाहर से इतना बड़ा कवि आये और यों चला जाय! आपको वहाँ ठहरना चाहिये था...."

"यह भी तो सब सेठजी आपका ही है।" कांग्रेसी कार्यकर्ता, कवि के आतिथेय मित्र ने कहा।

"हाँ-हाँ, सो तो है ही।" सेठजी जल्दी से बोले और अत्यन्त आशा से वे कवि की तरफ देखते रहे—"फिर महाराज, आज्ञा?"

कवि भास्कर जैसे सपने से चौंके। अपने पहले परिहास को मुक्ति का बहाना मानकर, ज़रा गहरा रंग देते हुए उन्होंने आगे झुककर व्यस्तता से सिगरेट की राख को ऐश-ट्रे में झाड़ते हुए गम्भीरतापूर्वक कहा, "मैंने आपके मैनेजर साहब से कहा न!"

"उसकी आप क्यों चिन्ता करते हैं महाराज, ऐसा थोड़े ही है; जो

पत्रम्-पुष्पम् होगा सो तो करेंगे ही....." सेठजी के स्वर में दीनता थी, लेकिन उसके पीछे जो गर्व था वह शब्दों के अर्थ से ध्वनित होता था। कुछ सोचकर वे फिर बोले, "हम किस लायक हैं महाराज, जरा कला और साहित्य का सौख है, सो भरसक उसकी सेवा करते हैं, नहीं तो आप खुद जानो, यह कुछ सौदा-व्यापार की चीज तो है नहीं।" इस बार उनके अंजली-बद्ध हाथों में एक हरा चैक पान के पत्ते की तरह फैला हुआ था...

कवि ने देखा और चौंककर जोर से सिगरेट का कश खींचा, फिर ढेर-सा धुआँ उगल दिया। उनके और सेठजी के बीच में क्षण-भर के लिए धुएँ की एक दीवार खड़ी हो गई। उसके पार से उन्होंने विश्वास करने के लिए जैसे देखा—हाँ, वहाँ चार बिन्दियाँ ही दीख रही थीं। ....तो सच ? उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ।

अब कवि ने जाना कि उनके सामने एक करोड़पति सेठ बैठा है। कवि भास्कर के दिमाग की चरखी जैसे एक साथ जोर से भन्नाकर चल उठी।

"नहीं....नहीं, इसे रखिए सेठजी, वह सब तो परिहास की बात थी।" कवि ने निश्चय कर लिया कि वह सब नहीं लेगा—रंडियों की तरह अपने मुजरे का पैसा तय करना कितना हीन है! यदि जाना होगा तो वैसे ही जायगा।

"नहीं....नहीं, महाराज, यह तो पत्र-पुष्प है। आप कुछ और मत सोचिए..." सेठजी कह रहे थे, लेकिन उनकी मुद्रा में विजय का विश्वास था।

एक हाथ से कवि लगातार धांय-धांय सिगरेट फूंक रहे थे और उत्तेजना से दूसरे हाथ से अपने पैर के अँगूठे और उंगली को चटखा रहे थे। इस बार उनकी इच्छा हुई कि झपटकर सेठ की अंजली में नीचे से जोर का हाथ मार दें कि चैक कटी पतंग की तरह हवा में डगमगाकर नीचे जा गिरे....उनका नाम हो जायगा....लोग वाह-वाह कर उठेंगे—कवि भास्कर सच्चा क्रान्तिकारी कवि है, उसने करोड़पति

सेठ के दस हज़ार पर लात मार दी''''एक ऐतिहासिक घटना हो जायगी।

"आपका बड़ा नाम है। हमारी तो बहुत दिन से अभिलाषा थी कि आपके दर्शन करेंगे। वैसे तो महाराज, आप जानो यह बिजनेस का चक्कर ही ऐसा है कि न दिन को चैन, न रात को नींद, पर फिर भी महाराज, ज़रा सौख है सो कभी-कभी चरन-धूल ले लेते हैं''''।" उन्होंने चैक को चादर पर रख दिया।

ऊपर चलते पंखे की हवा से चैक फड़फड़ाकर औंधा हो गया और एक ओर उड़ने के लिए मुड़ने लगा''''कवि ने बड़ी तटस्थता से उसे देखा और हाथ बढ़ाकर पीतल की मछलीनुमा एश-ट्रे उस पर रख दी। उसके हर व्यवहार से ऐसा ही प्रकट होता था जैसे वह एक अत्यन्त ही तुच्छ कागज को उड़ने से दबा रहा हो। अब तक उनके मन में चैक को स्वीकार करने की बात नहीं थी।

उड़ते चैक की फड़फड़ाहट से उन्हें अचानक ऐसा लगा कि क्यों वे एक क्षण की भावुकता में बहकर लक्ष्मी को लौटा रहे हैं—मिलना तो दूर रहा, इतने रुपये की तो उन्हें कभी एक साथ कल्पना भी नहीं हुई। कौन जाने इतिहास में उन्हें कौन किस रूप में याद करे! और याद करे भी या नहीं। जिन्दगी-भर क्रान्ति के गीत गाये, स्वतन्त्रता लाने में अपना हिस्सा अदा किया, जिस नाम पर दुनिया-भर के कष्ट और मुसीबतें सहीं—क्या मिला उन्हें उस सबके बदले में? प्रकाशकों ने किताबें बेचीं, कोर्स में लगवाईं; लड़कों और पाठकों ने क्रान्तिकारी कविताएँ पढ़ीं; एक एक शब्द का कवि की कल्पना में भी न आ सकने वाला अर्थ कर-करके पढ़ाने वालों ने अपना ज्ञान बघारा; नकलबाजों ने कुञ्जियाँ लिखीं, स्टेजों पर बड़े हाव-भाव से मुट्ठियाँ बाँध-बाँधकर, दांत भींच-भींचकर साभिनय उनका पाठ किया गया—श्रोताओं ने अपनी नसों में चींटियाँ रेंगने की सुरसुराहट और खाल पर कदम्ब जैसे रोमांच अनुभव किये, पर फिर''''! इम्तहान पास कर-करके विद्यार्थी

लोग जीवन में अच्छी-अच्छी जगहों पर जम गए, क्रान्तिकारी कवि को क्या मिला ? एक सारहीन सन्तोष, एक स्थगित किया हुआ काल्पनिक आशावादी विश्वास कि शायद कभी तो इन सत्ताधारियों को ध्यान आयेगा कि लोगों में जोश भरने में उसका भी हाथ रहा है ···तब उसके जीवन में एक परिवर्तन आयेगा···अभी तक तो वह परिवर्तन आया नहीं···कौन जाने उसके जीवन में ही वह आयेगा भी या नहीं···उसका एक और भी तो साथी कवि था···बड़े क्रान्ति के गीत गाता था, स्वतंत्रता के राग अलापता था, और जब उसने इस स्वतन्त्रता की शक्ल देखी तो पागल हो गया। और पच्चीस साल पुराना उसका यह क्लास-फैलो आतिथेय है, जो अवसरवादी किस्म का छोटा-मोटा कांग्रेसी रहा, और जिसके यहाँ बैठकर वह जीवन में दूसरी या तीसरी बार स्टेट-एक्सप्रेस सिगरेट पी रहा है···झूठे यश के सन्तोष और भुलावे की कल्पना में उसकी लड़की बिना इलाज मर गई।

"तो फिर थोड़ा कष्ट कीजिये महाराज, बाहर गाड़ी खड़ी है।" सेठजी की वाणी उन्हें कहीं दूर से सुनाई दी···

कवि भास्कर के मन में फिर एक बार आया कि दुहरा दें—'संतन कहा सीकरी सो काम···' वे मुख पर शान्त निर्विकार तटस्थता को प्रयासपूर्वक स्थिर रखे हुए सिगरेट तो पिये जा रहे थे, लेकिन उन्हें लग ऐसा रहा था जैसे सामने बैठा सेठ उनका आतिथेय मित्र, कन्धे उचकाता मैनेजर, पंखे की हवा से हिलते परदे—सबको वे बौछार खाते खिड़की के शीशे के पार से देख रहे हों···सब धुंधला-धुंधला। उनके मन में एक तर्क आया, अगर मैं उससे एकदम मना कर दूं तो क्या होगा ?···शायद यह चला जायगा—मुझे मन-ही-मन घमण्डी समझता हुआ, गालियाँ देता। इस व्यापारिक कीचड़ के बीच में भी जो कला और साहित्य के प्रति इसके हृदय में प्रेम है, हो सकता है उसे भी यह क्रोध की प्रतिक्रिया में कुचल दे। शायद कोई उसके लिए इसके पीछे डंडा लेकर नहीं पड़ा कि वह कला और साहित्य को ही अपना शौक बनाए। इधर से निराश

होकर हो सकता है, अपना शौक वह इधर-उधर की चीज़ों पर केन्द्रित कर दे। क्या इस सबका कारण कवि भास्कर नहीं होंगे? अपना नुक-सान करके, जो यह उनके बीस नखरे बरदाश्त करके उन्हें ले जा रहा है, उसके बदले में क्या भौतिक लाभ इसे होगा? सिवा इसके कि एक सन्तोष हो, थोड़ा-सा गर्व हो और यश मिले कि देश का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी कवि''''सेठ का अतिथि। लेकिन इस यश और आत्म-संतोष से क्या लाभ?''''क्या कवि भास्कर इस तरह के यश और आत्म-संतोष को पिछले पच्चीस वर्ष से निरन्तर नहीं प्राप्त कर रहा? उससे अधिक अच्छी तरह इस बात को और कौन जानेगा कि इस सबका सचमुच कोई अर्थ नहीं होता, कि इससे खोखली चीज कोई दूसरी नहीं है। अच्छा है, इस झूठे सुख-संतोष को अब यही प्राप्त करे, मुझे कुछ और चाहिए।

"महाराज हम लोगों ने गोष्ठी का समय तय कर दिया है, देर हो रही है, कुछ जल्दी हो जाती तो अच्छा था।" सेठ के हर अंग-चालन में एक ऐसा गर्व था जैसे वह हर क्षण अनुभव कर रहा हो कि गुणियों और पण्डितों के सामने हमारी नम्रता और चिरौरी ही शोभा देती हैं। सेठ के बाप के बाप का भी यही रवैया था—हम लोगों ने हमेशा पंडितों और गुणियों का आदर किया है, गुण को परखा और बढ़ावा दिया है। उसी महान् परम्परा के उज्ज्वज रत्न अपने-आपको वे समझ रहे थे।

क्या महाराज-महाराज करता है! कवि भास्कर मन-ही-मन झुंझ-लाए। दिल में आया कि झिड़क दें। भीतर-ही-भीतर वे जाने को तैयार हो गए थे, लेकिन एक हिचकिचाहट थी—प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कवि कहाँ पहुँचा! लेकिन उन्होंने समझाया, वे सब बेकार की बातें हैं। जब हमें अपनी आवाज़, अपना सन्देश घर-घर पहुँचाना है तो यही वर्ग हमारे ज़रा-से दम्भ में क्यों बच जाय? मेरी क्रान्तिकारी कविता हर एक के दिल को झकझोर सकती है तो क्या इनके दिलों को छुएगी भी नहीं? कोई-कोई क्षण ऐसा होता है जब एक ज़रा-सी बात आदमी के दिल

पर ऐसा असर कर जाती है जिसे कोई सोच भी नहीं सकता। कौन जाने वैसा ही कोई क्षण मेरी कविता भी पकड़ ले। मैंने मुसीबतों से घबराकर चाहे जो सोचा हो, लेकिन अपनी क्रान्तिकारी वाणी को अवसर के अनुकूल तराशने की बात भी मेरे मन में नहीं आई। ठीक है, मैं उस दिन आत्म-हत्या कर लूंगा या कर लेना ज्यादा पसन्द करूंगा, जिस दिन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरी वाणी को बदलने की मांग की जायगी और मैं उसे स्वीकार कर लूंगा। और अब वह जैसी है उसे घर-घर पहुँचना है।

कवि भास्कर उठ खड़े हुए। उन्होंने कन्धे पर पड़े हुए चादरे को झटककर फिर रखा और गम्भीर वाणी में बोले, "सेठजी, मैं चल रहा हूँ, लेकिन यह सब नहीं चलेगा। वह तो सिर्फ मज़ाक था...।"

"हिं-हिं-हिं, यह तो तुच्छ भेंट है।" इस बार सेठजी ने प्रसन्नता से खीसें निपोर दीं और आदर में इतने झुक गए जैसे चरण ही छू लेंगे।

पानी पर नाव-सी सरकती कैडलॉक गाड़ी में बगल में बैठे कवि भास्कर से सेठजी ने कहा, "दसवें किलास में आपकी एक कविता थी किताब में, हमने कंठ कर ली थी सो आज भी याद है....देश के लिए जो भी थोड़ा-बहुत प्रेम पैदा हुआ है सो समझो, उसी की शुरुआत से ....आपकी कविता रिकार्ड तो कर लें न...?"

कवि भास्कर मुस्कराए और चारों तरफ देखकर सोचने लगे—गाड़ी एयरकण्डीशण्ड है।

उन्हें अन्यमनस्क देखकर सेठजी ने ड्राइवर से कहा, "देवीसिंह, ताराबाबू से फौरन जाते ही मशीन को कह देना।"

शायद उसके चौथे-पांचवें दिन की बात है।

अपने आतिथेय मित्र के साथ कवि भास्कर यों ही ज़रा घूमने जा रहे थे। दूर हवा में सिनेमा के गीतों की लाउडस्पीकरों पर गूंजती आवाज़ें सुनकर दोनों की बातचीत का विषय सिनेमा के गीतों पर आ गया।

बाज़ारू गीतों के साथ नहीं बजवा सकते····"

सेठजी ने बहुत शान्त, अप्रभावित और दबी विजय के स्वर में उत्तर दिया—"इतने तेज क्यों होते हैं ? थोड़ा शान्त होइए महाराज ! यह कविता और आवाज़ अब आपकी रही कहाँ ? इसे तो हमने दस हज़ार रुपये देकर खरीदा है, राजी-राजी; बेटी तो महाराज, तभी तक बाप की है जब तक उसके घर रहे । फिर तो जिम्मेदारी सारी ससुराल पर आ जाती है···।"

कवि का चेहरा एकदम फक् पड़ गया, जैसे लकवा मार गया हो। उनके ज़ोर से भिंचे हुए दाँत ढीले पड़ गए और मुट्ठियाँ खुल गईं । डूबते हुए उन्होंने सुना—"यहाँ क्यों खड़े हैं, भीतर चलकर विराजिए न महाराज, ठण्डा जल-वल पीजिए···।"

और सेठजी के इशारे पर फिर कवि भास्कर का रिकार्ड चढ़ा दिया गया था····

क्या यह आवाज़ कवि भास्कर की ही है···?

बेटी का बाप
उर्फ़
जहाँ लक्ष्मी कैद है



जहाँ लक्ष्मी क़ैद है

जरा ठहरिए, यह कहानी विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के बारे में नहीं, लक्ष्मी नाम की एक ऐसी लड़की के बारे में है जो अपनी क़ैद से छूटना चाहती है। इन दो नामों में ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है जैसा कि कुछ क्षण के लिए गोविन्द को हो गया था।

एकदम घबराकर जब गोविन्द की आँखें खुलीं तो वह पसीने से तर था और उसका दिल इतने जोर से धड़क रहा था कि उसे लगा कहीं अचानक उसका धड़कना बन्द न हो जाय। अँधेरे में उसने पाँच-छः बार पलकें झपकीं, पहली बार तो उसकी समझ में ही न आया कि वह कहाँ है, कैसा है—एकदम दिशा और स्थान का ज्ञान उसे भूल गया। जब पास के हाल की घड़ी ने एक का घण्टा बजाया तो उसकी समझ में ही न आया कि वह घड़ी कहाँ है, वह स्वयं कहाँ है और घण्टा कहाँ बज रहा है। फिर धीरे-धीरे उसे ध्यान आया, उसने ज़ोर से अपने गले

का पसीना पोंछा और उसे लगा, उसके दिमाग़ में फिर वही खट्-ख़ट् गूंज उठी है, जो अभी गूंज रही थी ··

पता नहीं, सपने में या सचमुच ही, अचानक गोविन्द को ऐसा लगा था जैसे किसी ने किवाड़ पर तीन-चार बार खट्-खट् की हो, और बड़े गिड़गिड़ाकर कहा हो—'मुझे निकालो, मुझे निकालो !' और वह आवाज़ कुछ ऐसे रहस्यमय ढंग से आकर उसकी चेतना को कोंचने लगी कि वह बौखलाकर जाग उठा—सचमुच ही यह किसी की आवाज़ थी या महज़ उसका भ्रम ?

फिर उसे धीरे-धीरे याद आया कि यह भ्रम ही था और वह लक्ष्मी के बारे में सोचता हुआ ऐसा अभिभूत सोया था कि वह स्वप्न में भी छाई रही। लेकिन वास्तव में यह आवाज़ कैसी विचित्र थी, कैसी साफ थी ! उसने कई बार सुना था कि अमुक स्त्री या पुरुष से स्वप्न में आकर कोई कहता था कि 'मुझे निकालो, मुझे निकालो।' फिर वह धीरे-धीरे स्थान की बात भी बताने लगता था, और वहाँ खुदवाने पर कड़ाहे या हाँडी में भरे सोने-चाँदी के सिक्के या माया उसे मिली और वह देखते-देखते मालामाल हो गया। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि किसी अनधिकारी आदमी ने उस द्रव्य को निकलवाना चाहा तो उसमें कौड़ियाँ और कोयले निकले। या फिर उसके कोढ़ फूट आया, या घर में कोई मृत्यु हो गई। कहीं इसी तरह, धरती के नीचे से उसे कोई लक्ष्मी तो नहीं पुकार रही है ? और वह बड़ी देर तक सोचता रहा, उसके दिमाग़ में फिर लक्ष्मी का किस्सा साकार होने लगा। वह मोहाछन्न-सा पड़ा रहा····

दूर कहीं दूसरे घड़ियाल ने फिर वही एक घण्टा बजाया।

गोविन्द से अब नहीं रहा गया। रज़ाई को चारों तरफ से बन्द रखे हुए ही बड़े सँभलकर उसने कुहनी तक हाथ निकाला, लेटे-ही-लेटे अलमारी के खाने से किताब-कापियों की बगल से उसने अधजली मोमबत्ती निकाली, वहीं कहीं से खोजकर दियासलाई निकाली और

आधा उठकर, ताकि जाड़े में दूसरा हाथ पूरा न निकालना पड़े, उसने दो-तीन बार घिसकर दियासलाई जलाई, मोमबत्ती रोशन की और पिघले मोम की बूंद टपकाकर उसे दवात के ढक्कन के ऊपर जमा दिया। धीरे-धीरे हिलती रोशनी में उसने देख लिया कि पूरे किवाड़ बन्द हैं, और दरवाज़े के सामने वाली दीवार में बने, जाली लगे रोशनदान के ऊपर, दूसरी मंज़िल से हल्की-हल्की जो रोशनी आती है, वह भी बुझ चुकी है। सब-कुछ कितना शान्त हो चुका है! बिजली का स्विच यद्यपि उसके तख्त के ऊपर ही लगा था, लेकिन एक तो जाड़े में रज़ाई समेत या रज़ाई छोड़कर खड़े होने का आलस्य, दूसरे लाला रूपाराम का डर, सुबह ही कहेगा—'गोविन्द बाबू, बड़ी देर तक पढ़ाई हो रही है आजकल।' जिसका सीधा अर्थ होगा कि बड़ी बिजली खर्च करते हो।

फिर उसने चुपके से, जैसे कोई उसे देख रहा हो, तकिये के नीचे से रज़ाई के भीतर-ही-भीतर हाथ बढ़ाकर वह पत्रिका निकाल ली और गरदन के पास से हाथ निकालकर उसके सैंतालीसवें पन्ने को बीसवीं बार खोलकर बड़ी देर घूरता रहा। एक बजे की पठानकोट एक्सप्रेस जब दहाड़ती हुई गुज़र गई तो सहसा उसे होश आया। ४७ और ४८, जो पन्ने उसके सामने खुले थे, उनमें जगह-जगह नीली स्याही से कुछ पंक्तियों के नीचे लाइनें खींची गई थीं। यही नहीं, उस पन्ने का कोना मोड़कर उन्हीं लाइनों की तरफ़ विशेष रूप से ध्यान खींचा गया था। अब तक गोविन्द उन या उनके आस-पास की लाइनों को बीस बार से अधिक घूर चुका था। उसने शंकित निगाहों से इधर-उधर देखा और फिर एक बार उन पंक्तियों को पढ़ा।

जितनी बार वह उन्हें पढ़ता, उसका दिल एक अनजान आनन्द के बोझ से धड़ककर डूबने लगता और दिमाग़ उसी तरह भन्ना उठता जैसा उस समय भन्नाया था, जब यह पत्रिका उसे मिली थी। यद्यपि इस बीच उसकी मानसिक दशा कई विकट स्थितियों से गुज़र चुकी थी, फिर

भी वह बड़ी देर तक काली स्याही से छपे कहानी के अक्षरों को स्थिर निगाहों से घूरता रहा। धीरे-धीरे उसे ऐसा लगा, अक्षरों की यह पंक्ति एक ऐसी खिड़की की जाली है, जिसके पीछे बिखरे बालों वाली एक निरीह लड़की का चेहरा झाँक रहा है। और फिर उसके दिमाग़ में बचपन में सुनी कहानी साकार होने लगी—शिकार खेलने में साथियों का साथ छूट जाने पर भटकता हुआ एक राजकुमार अपने थके-मांदे घोड़े पर बिलकुल वीराने में, समुद्र के किनारे बने एक विशाल सुनसान किले के नीचे जा पहुँचा। वहाँ ऊपर खिड़की में उसे एक अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी बैठी दिखाई दी, जिसे एक राक्षस ने लाकर वहाँ क़ैद कर दिया था''''छोटे-से-छोटे विवरण के साथ खिड़की में बैठी राजकुमारी की तस्वीर गोविन्द की आँखों के आगे स्पष्ट और मूर्त होती गई। और उसे लगा, जैसे वही राजकुमारी उन रेखांकित, छपी लाइनों के पीछे से झांक रही है, उसके गालों पर आँसुओं की लकीरें सूख गई हैं, उसके होंठ पपड़ा गए हैं'''चेहरा मुरझा गया है और रेशमी बाल मकड़ी के जाले जैसे लगते हैं, जैसे उसके पूरे शरीर से एक आवाज़ निकलती हो—'मुझे छुड़ाओ, मुझे छुड़ाओ !'

गोविन्द के मन में उस अनजान राजकुमारी को छुड़ाने के लिए जैसे रह-रहकर कोई कुरेदने लगा। एक-आध बार तो उसकी बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि अपने भीतर रह-रहकर कुछ करने की उत्तेजना को वह अपने तख्त और कोठरी की दीवार के बीच में बची दो फ़ीट चौड़ी गली में घूम-घूमकर दूर कर दे।

तो क्या सचमुच लक्ष्मी ने यह सब उसी के लिए लिखा है ? लेकिन उसने तो लक्ष्मी को देखा तक नहीं। अगर अपनी कल्पना में किसी जवान लड़की का चेहरा लाए भी तो वह आख़िर कैसी हो ?'''' कुछ और भी बातें थीं कि वह लक्ष्मी के रूप में एक सुन्दर लड़की के चेहरे की कल्पना करते डरता था—उसकी ठीक शक्ल-सूरत और उम्र भी तो नहीं मालूम उसे'''

गोविन्द यह अच्छी तरह जानता था कि यह सब उसी के लिए लिखा गया है। ये लाइनें खींचकर उसी का ध्यान आकृष्ट किया गया है, लेकिन फिर भी वह इस अप्रत्याशित बात पर विश्वास नहीं कर पाता था। वह अपने को इस लायक भी नहीं समझता था कि कोई लड़की इस तरह उसे संकेत करेगी। यों शहरों के बारे में उसने बहुत काफ़ी सुन रखा था, लेकिन यह सोचा भी नहीं था कि गाँव से इण्टर पास करके शहर आने के एक हफ़्ते में ही उसके सामने एक वैसी ही 'सौभाग्य-पूर्ण' बात आ जायगी···

वह जब-जब इन पंक्तियों को पढ़ता तब-तब उसका सिर इस तरह चकराने लगता जैसे किसी दस-मंजिले मकान से नीचे झांक रहा हो। जब उसने पहले-पहल ये पंक्तियाँ देखी थीं तो इस तरह उछल पड़ा था जैसे हाथ में अंगारा आ गया हो।

बात यह हुई कि वह चक्की वाले हॉल में ईंटों के तख्त जैसे बने चबूतरे पर बड़ी पुरानी काठ की सन्दूकची के ऊपर लम्बा-पतला रजिस्टर खोले दिन-भर का हिसाब मिला रहा था, तभी लाला रूपाराम का सबसे छोटा नौ-दस साल का लड़का रामस्वरूप उसके पास आ खड़ा हुआ। यह लड़का फटे-पुराने-से एक चैस्टर की, जो साफ़ ही किसी बड़े भाई के चैस्टर को कटवाकर बनवाया गया होगा, जेबों में दोनों हाथों को ठूंस पास खड़ा होकर उसे देखने लगा।

गोविन्द जब पहले ही दिन आया था और हिसाब कर रहा था, तभी यह लड़का भी आ खड़ा हुआ था। उस दिन लाला रूपाराम भी थे, इसलिए सिर्फ़ यह दिखाने को कि वह उनके सुपुत्र में भी काफ़ी रुचि रखता है, उसने उससे नियमानुसार नाम, उम्र और स्कूल-क्लास इत्यादि पूछे थे। नाम रामस्वरूप, उम्र नौ साल, चुंगी प्राइमरी स्कूल में चौथे क्लास में पढ़ता था। फिर तो सुबह-शाम गोविन्द उसे चैस्टर की छाया से ही जानने लगा। शक्ल देखने की ज़रूरत ही नहीं होती थी। चैस्टर के नीचे नेकर पहने होने के कारण उसकी पतली टाँगें खुली रहतीं और

वह पाँवों में बड़े पुराने किरमिच के जूते पहने रहता, जिनकी फटी-निकली जीभों को देखकर उसे हमेशा दुम-कटे कुत्ते की पूँछ का ध्यान हो आता था।

थोड़ा देर उसका लिखना ताकते रहकर लड़के ने चैस्टर के बटनों के कसाव और छाती के बीच में रखी पत्रिका निकालकर उसके सामने रख दी और बोला—"मुंशीजी, लक्ष्मी जीजी ने कहा है, हमें कुछ और पढ़ने को दीजिए।"

"अच्छा, कल देंगे''''" मन-ही-मन भन्नाकर उसने कहा।

यहाँ आकर उसे जो 'मुंशीजी' का नया ख़िताब मिला है, उसे सुन-कर उसकी आत्मा ख़ाक हो जाती। 'मुंशी' नाम के साथ जो एक कान पर कलम लगाये, गोल-मैली टोपी, पुराना कोट पहने, मुड़े-तुड़े आदमी की तस्वीर सामने आती है, उसे बीस-बाईस साल का युवक गोविन्द सँभाल नहीं पाता।

लाला रूपाराम उसी के गाँव के हैं—शायद उसके पिता के साथ दो-तीन जमात पढ़े भी थे। शहर आते ही आत्म-निर्भर होकर पढ़ाई चला सकने के लिए किसी ट्यूशन इत्यादि या छोटे पार्ट-टाइम काम के लिए लाला रूपाराम से भी वह मिला, तो उन्होंने अत्यन्त उत्साह से उसके मृत बाप को याद करके कहा—"भैया, तुम तो अपने ही बच्चे हो, ज़रा हमारी चक्की का हिसाब-किताब घण्टे-आध घण्टे देख दिया करो और मज़े में चक्की के पास जो कोठरी है उसमें पड़े रहो, अपने पढ़ो। आटे की यहाँ तो कमी है ही नहीं।" और अत्यन्त कृतज्ञता से गद्गद जब वह उनकी कोठरी में आ गया तो पहली रात हिसाब लिखने का ढंग समझाते हुए लाला रूपाराम मोतियाबिन्द वाले चश्मे के मोटे-मोटे काँचों के पीछे से मोरपंखी के चँदोवे-सी दीखती आँखों और मोटे होंठों से मुस्कराते, उसका सम्मान बढ़ाने को 'मुंशीजी' कह बैठे तो वह चौंक गया। लेकिन उसने निश्चय कर लिया कि यहाँ जम जाने के बाद निनम्रता से इस शब्द का विरोध करेगा। रामस्वरूप से मुंशीजी नाम

सुनकर उसकी भौंहें तन गईं, इसीलिए उसने उपेक्षा से वह उत्तर दिया था।

"कल ज़रूर दीजिएगा।" रामस्वरूप ने फिर अनुरोध किया।

"हाँ, भाई ज़रूर देंगे।" उसने दाँत पीसकर कहा, लेकिन चुप ही रहा। वह अक्सर लक्ष्मी का नाम सुनता था। हालाँकि उसकी कोठरी बिलकुल सड़क की तरफ़ अलग ही पड़ती थी; लेकिन उसमें पीछे की तरफ़ जो एक जालीदार छोटा-सा रोशनदान था, वह घर के भीतर नीचे की मंज़िल के चौक में खुलता था। लाला रूपाराम का परिवार ऊपर की मंज़िल पर रहता था और नीचे सामने की तरफ़ पनचक्की थी, पीछे कई तरह की चीज़ों का स्टोर-रूम था। इस 'लक्ष्मी' नाम के प्रति उसे उत्सुकता और रुचि इसलिए भी बहुत थी कि चाहे कोठरी में हो या बाहर पनचक्की के हॉल में, हर पाँचवें मिनट पर उसका नाम विभिन्न रूपों में सुनाई देता था—'लक्ष्मी बीबी ने यह कहा है', 'रुपये लक्ष्मी बीबी के पास हैं', 'चाबी लक्ष्मी बीबी को दे देना।' और उसके जवाब में जो एक पतली तीखी-सी अधिकारपूर्ण आवाज़ सुनाई देती थी, उसे गोविन्द पहचानने लगा था। अनुमान से उसने समझ लिया कि यही लक्ष्मी की आवाज़ है। लेकिन स्वयं वह कैसी है? उसकी एक झलक-भर देख पाने को उसका दिल कभी-कभी बुरी तरह तड़प-सा उठता। लेकिन पहले कुछ दिनों उसे अपना प्रभाव जमाना था, इसलिए वह आँख उठाकर भी भीतर देखने की कोशिश न करता। मन-ही-मन उसने समझ लिया कि यह लक्ष्मी है, काफ़ी महत्त्वपूर्ण ही····दिक़्क़त यह थी कि भीतर कुछ दिखाई भी तो नहीं देता था। सड़क के किनारे तीन-चार दरवाज़े वाले इस चक्की के हॉल के बाद एक आठ-दस फ़ीट लम्बी गली थी, तब फिर भीतर चौक था। पहली मंज़िल काफ़ी ऊँची और मज़बूत थी और चौक के ऊपर लोहे का जाल पड़ा था, उस पर से ऊपर वाले लोग जब गुज़रते थे तो लोहे की झनझनाहट से पहले तो उसका ध्यान हर बार उधर चला जाता था। कभी-कभी बच्चे तो और भी

उछल-उछलकर उस पर कूदने लगते थे। यहाँ से तो जब तक किसी बहाने पूरी गली न पार की जाय, कुछ भी दीखना असम्भव था। चूँकि गुसलखाना और नल इत्यादि उसी चौक में थे, जिनकी वजह से नीचे प्राय: सीलन और गीलापन रहता था, इसलिए सुबह चौक में जाते हुए अत्यन्त सीधे लड़के की तरह निगाहें नीची किये हुए भी वह ऊपर की स्थिति को भाँपने का प्रयत्न करता था। ऊपर सिर उठाकर आँख-भर देख पाने की उसमें हिम्मत न थी। अपनी कोठरी का एकमात्र दरवाज़ा बन्द करके, तख्त पर चढ़कर मकड़ी के जाले और धूल से भरे जालीदार रोशनदान से झाँककर उसने वहाँ की स्थिति को भी जानने की कोशिश की थी; लेकिन यह कम्बख्त जाली कुछ इस ढंग से बनी थी कि उसके 'फ़ोकस' में पूरा सामने वाला छज्जा और एकाध फुट लोहे का जाल-भर आता था। वहाँ कई बार उसे लगा जैसे दो छोटे-छोटे तलुए गुज़रे···बहुत कोशिश करने पर टखने दीखे—हाँ, हैं तो किसी लड़की के ही पैर, क्योंकि साथ में धोती का किनारा भी झलका था····उसने एक गहरी साँस ली और तख्त से उतरते हुए बड़े ऐक्टराना अंदाज़ में छाती पर हाथ मारा और बुदबुदाया—"अरे लक्ष्मी ज़ालिम, एक झलक तो दिखा देती···"

"मुंशीजी, तुम तो देख रहे हो, लिखते क्यों नहीं?" रामस्वरूप ने जब देखा कि गोविन्द धीरे-धीरे होल्डर का पिछला हिस्सा दाँतों में ठोंकता हुआ हिसाब की कॉपी में अपलक कुछ घूर रहा है तो पता नहीं कैसे यह बात उसकी समझ में आ गई कि वह जो कुछ सोच रहा है, उसका सम्बन्ध सामने रखे हिसाब से नहीं है····

उसने चौंककर लड़के की तरफ़ देखा···और चोरी पकड़ी जाने पर झेंपकर मुस्कराया, तभी अचानक एक बात उसके दिमाग़ में कौंधी—यह लक्ष्मी रामस्वरूप की बहन ही तो है। ज़रूर उसका चेहरा इससे काफी मिलता-जुलता होगा। इस बार उसने ध्यान से रामस्वरूप का चेहरा देखा कि वह सुन्दर है या नहीं। फिर अपनी बेवकूफ़ी पर मुस्कराकर

एक अँगड़ाई ली। चारों तरफ़ ढीले हुए कम्बल को फिर से ओर से कस लिया और अप्रत्याशित प्यार से बोला—"अच्छा मुन्ना, कल सुबह दे देंगे।"···उसकी इच्छा हुई कि वह उनसे लक्ष्मी के बारे में कुछ बात करे, लेकिन सामने ही चौकीदार और मिस्त्री नसीम काम कर रहे थे···

असल में आज वह थक भी गया था। अचानक व्यस्त होकर बोला था और जल्दी-जल्दी हिसाब करने लगा। दुनिया-भर की सिफ़ारिशों के बाद उसका नाम कॉलेज के नोटिस-बोर्ड पर आ गया कि वह ले लिये गए लड़कों में से है। आते समय कुछ किताबें और कापियाँ भी वह खरीद लाया था, सो आज वह चाहता था कि जल्दी-से-जल्दी अपनी कोठरी में लेटे और कुछ आगे-पीछे की बातें····दुनिया-भर की बातें सोचता हुआ सो जाय····सोचे, लक्ष्मी कौन है····कैसी है····वह उसके बारे में किसी से पूछे?····कोई उसका ढंग-ढब और विश्वास का आदमी भी तो नहीं है। किसी से पूछे और रूपाराम को पता चल जाय तो? लेकिन अभी तीसरा ही तो दिन है···मन-ही-मन अपने पास रखी पत्रिकाओं और कहानी की पुस्तकों की गिनती करते हुए वह सोचने लगा कि इस बार उसे कौनसी देनी है···आगे जाकर जब काफ़ी दिन हो जायेंगे तो वह चुपचाप उसमें एक ऐसा छोटा-सा पत्र रख देगा जो किसी दोस्त के नाम लिखा गया होगा या उसकी भाषा ऐसी होगी कि पकड़ में न आ सके···भूल से चला गया, पकड़े जाने पर वह आसानी से कह सकेगा—उसे तो ध्यान भी नहीं था कि वह परचा इसमें रखा है। बीस जवाब हैं। अपनी चालाक बेवक़ूफ़ी की कल्पना पर वह मुस्कराने लगा।

जिसके विषय में वह इतना सब सोचता है, यह उसी लक्ष्मी के पास से आई हुई पत्रिका है—उसने इसे अपने कोमल हाथों से छुआ होगा, तकिये के नीचे, सिरहाने भी यही होगी···लेटकर पढ़ते हुए, हो सकता है सोचते-सोचते छाती पर भी रखकर सो गई हो···और

उसका तन-मन गुदगुदा उठा। क्या लक्ष्मी उसके विषय में बिलकुल ही न सोचती होगी ? हिसाब लिखने की व्यस्तता में भी उसने गरदन मोड़कर एक हाथ से पत्रिका के पन्ने पलटने शुरू कर दिए और एक कोना-मुड़े पन्ने पर अचानक उसका हाथ ठिठक गया—यह किसने मोड़ा है ? एक मिनट में हज़ारों बातें उसके दिमाग़ में चक्कर लगा गईं। उसने पत्रिका उठाकर हिसाब की कॉपी पर रख ली। मुड़ा पन्ना पूरा खुला था। छपे पन्ने पर जगह-जगह नीली स्याही से निशान देखकर वह चौंक पड़ा। ये किसने लगाए हैं ? उसे खूब अच्छी तरह ध्यान है, वह पहले नहीं थे···

'मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ····' उसने एक नीली लाइन के ऊपर पढ़ा····

"एं, यह क्या चक्कर है···? वह एकदम जैसे बौखला उठा। उसने फौरन ही सामने बैठे मिस्त्री सलीम और दिलावरसिंह को देखा, वे अपने में ही व्यस्त थे। उसकी निगाह अपने-आप दूसरी लाइन पर फिसल गई।

'मुझे यहाँ से भगा ले चलो····'

"अरे····!"

तीसरी लाइन—'मैं फांसी लगाकर मर जाऊँगी···"

और गोविन्द इतना घबरा गया कि उसने फट से पत्रिका बन्द कर दी। शंका से इधर-उधर देखा, किसी ने ताड़ तो नहीं लिया ? उसके माथे पर पसीना उभर आया और दिल चक्की के मोटर की तरह चलने लगा। पत्रिका के उन पन्नों के बीच में ही उँगली रखे हुए उसने उसे घुटने के नीचे छिपा लिया। कहीं दूर से ही रंग-बिरंगी कवर की तस्वीर देखकर यह कम्बख्त चौकीदार ही न माँग बैठे। उन पंक्तियों को एक बार फिर देखने की दुर्निवार इच्छा उसके मन में हो रही थी, लेकिन जैसे हिम्मत न पड़ती थी। क्या सचमुच ये निशान लक्ष्मी ने ही लगाए हैं ? कहीं किसी ने मज़ाक तो नहीं किया ? लेकिन मज़ाक उससे कौन

करेगा, क्यों करेगा ? ऐसा उसका कोई परिचित भी तो नहीं है यहाँ, कि तीन दिन में ही ऐसी हिम्मत कर डाले ।

उसने फिर पत्रिका निकालकर पूरी उलट-पलट डाली । नहीं, निशान वही हैं, बस । वह उन तीनों लाइनों को फिर एक साथ पढ़ गया और उसे ऐसा लगा जैसे उसके दिमाग़ में हवाई जहाज़ भन्ना उठा हो । गोविन्द का दिमाग़ चकरा रहा था, दिल धड़क रहा था और जो हिसाब वह लिख रहा था, वह तो जैसे एकदम भूल गया । उसने क़लम के पिछले हिस्से से कान के ऊपर खुजलाया, खूब आँखें गड़ाकर जमा और ख़र्च के खानों को देखने की कोशिश की, लेकिन बस नस-नस में सन्-सन् करती कोई चीज़ दौड़ी जा रही थी । उसे लगा, उसका दिल फट जायगा और आतिशबाज़ी के अनार की तरह दिमाग़ फूट पड़ेगा ···अब वह किससे पूछे··· यह सब निशान किसने लगाए हैं ? क्या सचमुच लक्ष्मी ने ?

इस मधुर-सत्य पर विश्वास नहीं होता । मैं चाहे उसे न देख पाया होऊँ, उसने तो ज़रूर ही मुझे देख लिया होगा । अरे, ये लड़कियाँ बड़ी तेज़ होती हैं । गोविन्द की इच्छा हुई, अगर उसे कहीं छाया शीशा मिल जाय तो वह लक्ष्मी की आँखों से अपने को एक बार देखे—कैसा लगता है···

लेकिन यह लक्ष्मी कौन है ? विधवा, कुमारी, विवाहिता, परित्यक्ता, क्या ? कितनी बड़ी है ? कैसी है ? उसकी नस-नस में एक ऐसी प्रबल मरोड़-सी उठने लगी कि वह अभी उठे और दौड़कर भीतर के आँगन की सीढ़ियों से धड़ाधड़ चढ़ता हुआ ऊपर जा पहुँचे—लक्ष्मी जहाँ भी, जिस कमरे में बैठी हो, उसके दोनों कंधे झकझोरकर पूछे, 'लक्ष्मी, लक्ष्मी, यह सब तुमने लिखा है ? तुम नहीं जानतीं लक्ष्मी, मैं कितना अभागा हूँ ! मैं क़तई इस सौभाग्य के लायक़ नहीं हूँ ।' और सचमुच इस अप्रत्याशित सौभाग्य से गोविन्द का हृदय इस तरह पसीज उठा कि उसकी आँखों में आँसू आ गए । डोरी से लटकते हुए बल्ब को इकटक

देखता हुआ वह अपने अतीत और भविष्य की गहराइयों में उतरता चला गया; फिर उसने धीरे से अपनी कोरों में भरे आँसुओं को उँगली पर लेकर इस तरह झटक दिया जैसे देवता पर चन्दन चढ़ा रहा हो। उसका ढीला पड़ा हाथ अब भी पत्रिका के पन्ने को पकड़े था।

एक बार उसने फिर उन पंक्तियों को देखा—मान लो लक्ष्मी उसके साथ भाग जाय ? कहाँ जायँगे वे लोग ? कैसे रहेंगे ? उसकी पढ़ाई का क्या होगा ? बाद में पकड़ लिये गए तो ?

लेकिन आखि़र यह लक्ष्मी है कौन ?

लक्ष्मी के बारे में प्रश्नों का एक झुंड उसके दिमाग़ पर टूट पड़ा, जैसे शिकारी कुत्तों का बाड़ा खोल दिया गया हो, या एक के बाद एक सिर पर कोई हथौड़े की चोटें कर रहा हो, बड़ी निर्ममता और क्रूरता से। जैसे छत पर से अचानक गिर पड़ने वाले आदमी के सामने सारी दुनिया एक झटके के साथ एक क्षण में चक्कर लगा जाती है, उसी तरह उसके सामने सैकड़ों-हज़ारों चीज़ें एक साथ चमककर ग़ायब हो गई।

ईंटों के ऊँचे चौकोर तख़्तनुमा चबूतरे पर पुरानी छोटी-सी सन्दूक़ची के आगे बैठा गोविन्द हिसाब लिख रहा था और अभी हिसाब न मिलने के कारण कच्चे पुरजे इधर-उधर बिखरे थे, वे सब यों ही बिखरे रहे। उसने खुले लेजर-रजिस्टर पर दोनों कुहनियाँ टिका दीं और दोनों हथेलियों से आँखें बन्द कर लीं""कनपटी के पास की नसें चटख रही थीं। ऐसा तो कभी देखा""सुना नहीं""सिनेमा, उपन्यासों में भी नहीं देखा-पढ़ा। सचमुच इन निशानों का क्या मतलब है ? क्या लक्ष्मी ने ही ये लाइनें खींची हैं ? हो सकता है किसी बच्चे ने ही खींच दी हों""इस सम्भावना से थोड़ा चौंककर गोविन्द ने फिर पन्ना खोला—नहीं, बच्चा क्या सिर्फ़ उन्हीं लाइनों के नीचे निशान लगाता ? और लकीरें इतनी सधी और सीधी हैं कि किसी बच्चे की हो ही नहीं सकतीं। किसी ने उसे व्यर्थ परेशान करने को तो निशान

नहीं लगा दिए ? हो सकता है वह लक्ष्मी बहुत चुहलबाज़ हो और ज़रा छकाने को उसी ने सब किया हो... ।

यद्यपि गोविन्द इस तरह आँखें बन्द किये सोच तो रहा था, लेकिन उसे मन-ही-मन डर था कि मिस्त्री और दरबान देखकर कुछ समझ न जायें । सबसे बड़ा डर उसे लाला रूपाराम का था । अभी रुई-भरी, सकलपारों वाली सिलाई की, मैली-सी पूरी बाँहों की गिरजई पहने और उस पर मैली चीकट, युगों पुरानी अण्डी लपेटे, धीरे-धीरे हाँफते हुए, बेंत टेकते, बड़े कष्ट से सीढ़ियाँ उतरकर वे आयेंगे...

अचानक बेंत की खट्-खट् से चौंककर उसने जो आँखों के आगे से हाथ हटाए तो देखा, सच ही लाला रूपाराम चले आ रहे हैं । अरे कम्बख़्त, याद करते ही आ पहुँचा—बैठे हुए देख तो नहीं लिया ? उसने झट पत्रिका को घुटने के नीचे और भी सरका लिया और सामने फैले पुरज़ों पर आँखें टिकाकर व्यस्त हो उठा । मिस्त्री और चौकीदार की खुसुर-पुसुर बन्द हो गई । गली-सी पार करके लाला रूपाराम ने प्रवेश किया ।

मोटे-मोटे शीशों के पीछे से उनकी आँखें बड़ी होकर भयंकर दीखती थीं । आँखों और पलकों का रंग मिलकर ऐसा दिखाई देता था जैसे पीछे मोरपंख के चँदोवे लगे हों । सिर पर रुई-भरा ही कनटोपा था । उसके कानों को ढकने वाले मोटर के 'मडगार्ड' जैसे कोने अब ऊपर मुड़े थे और पौराणिक राक्षसों के सींगों का दृश्य उपस्थित कर रहे थे । चेहरा उनका झुर्रियों से भरा था और चश्मे का फ्रेम नाक के ऊपर टूट गया था । उसे उन्होंने डोरा लपेटकर मरम्मत कर लिया था । दाँत उनके नक़ली थे और शायद ढीले भी थे; क्योंकि उन्हें वे हमेशा इस तरह मुँह चला-चलाकर पीछे सरकाये रखते थे जैसे 'चुइंगम' चबा रहे हों । गोविन्द को उनके इस मुँह चलाने और मुँह से निकली तरह-तरह की आवाज़ों ने बड़ी उबकाई-सी आती थी और

जब वे उससे बात करते तो वह प्रयत्न करके अपना ध्यान उस ओर से हटाए रखता। लाला रूपाराम की गरदन हमेशा इस तरह हिलती रहती जैसे खिलौने वाले बुड्ढे की गरदन का स्प्रिंग ढीला हो गया हो। घुटनों तक की मैली-कुचैली धोती और मिलिटरी के कबाड़िया बाजार से खरीद कर लाये गए मोज़ों पर बाँधने की पट्टियाँ, जो शायद उन्हें गठिया के दर्द से भी बचाती थीं। बिना फ़ीते के खींसें निपोरते फटे-पुराने बूट—उन्हें देखकर हमेशा गोविन्द को लगता कि इस आदमी का अन्त समय निकट आ गया है।

जब लाला रूपाराम पास आ गए तो उनके सम्मान में चेहरे पर चिकनाई वाली मुस्कान लाकर उनकी ओर देखते हुए स्वागत किया। ईंटों के चबूतरे पर लगभग दो सौ स्याही के दाग़ और छेदवाली दरी पर, रामस्वरूप के उससे सटकर खड़े होने से, एक मोटी-सी सिकुड़न पड़ गई थी। उसे हाथ से ठीक करके उसने कहा, "लालाजी, यहाँ बैठिए···।"

लालाजी ने हाँफते हुए बिना बोले ही इशारा कर दिया कि नहीं, ये ठीक हैं। और वे टीन की कुरसी पर ही उसकी ओर मुँह करके बैठ गए और हाँफते रहे। असल में उन्हें साँस की बीमारी थी और वे हमेशा प्यासे कुत्ते की तरह हाँफते रहते थे।

उनके वहाँ आ बैठने से एक बार तो गोविन्द काँप उठा, कहीं कम्बख्त को पता तो नहीं चल गया, कुछ पूछने-ताछने न आया हो। हालाँकि लाला रूपाराम इस समय खा-पीकर एक बार चक्कर ज़रूर लगाते थे, लेकिन उसे विश्वास हो गया कि हो-न-हो बुड्ढा ताड़ गया है। उसका दिल धसक चला। रूपाराम अभी हाँफ रहे थे। गोविन्द सिर झुकाए ही हिसाब-किताब जोड़ता रहा। आखिर स्थिति सँभालने की दृष्टि से उसने कहा—"लालाजी, आज मेरा नाम आ गया कॉलिज में।"

"अच्छा!" लालाजी ने खाँसी के बीच में ही कहा। वह एक हाथ से डंडे को धरती पर टेके थे, दूसरे हाथ में कलाई तक गोमुखी बँधी

थी, जिसके भीतर उँगलियाँ चला-चलाकर वह माला घुमा रहे थे और उनका वह हाथ टोंटा-सा लग रहा था।

वातावरण का बोझ बढ़ता ही चला जा रहा था कि एक घटना हो गई।

उन्होंने साँस इक्ट्ठी करके कुछ बोलने को मुँह खोला ही था कि भीतर आँगन का टट्टर (लोहे का जाल) भयंकर रूप से झनझना उठा, जैसे कोई बहुत ही भारी चीज ऊपर से फेंक दी गई हो। और फिर जोर से बजती हुई खनखनाती कलछी जैसी चीज नीचे आ गिरी, उसके पीछे चिमटा, सँडासी''''और फिर तो उसे ऐसा लगा जैसे कोई बाल्टी, कड़ाही तवा इत्यादि निकालकर टट्टर पर फेंक रहा है और पानी और छोटी-मोटी चीजें नीचे गिर रही हैं। उसके साथ कुछ ऐसा कोलाहल और कुहराम भीतर सुनाई दिया जैसे आग लग गई हो।

गोविन्द झटककर सीधा हो गया—कहीं सचमुच आग-वाग तो नहीं लग गई? उसने प्रश्न-सूचक दृष्टि से चौंककर लाला की तरफ देखा और वह आश्चर्य से अवाक् रह गया। लाला परेशान ज़रूर दिखाई देता था लेकिन कोई भयंकर घटना हो गई है और उसे दौड़कर जाना चाहिए ऐसी कोई बात उसके चेहरे पर नहीं थी। मिस्त्री और चौकीदार, दोनों बड़े दबे व्यंग्य से एक-दूसरे की ओर देखते, मुस्कराते, लाला की ओर निगाहें फेंक रहे थे। किसी को भी कोई खास चिन्ता नहीं थी। भीतर कोलाहल बढ़ रहा था, चीजें फिक रही थीं और टट्टर की खड़खड़ाहट-घनघनाहट गूँजती जा रही थी। आखिर यह क्या हो रहा है? उत्तेजना से उसकी पसलियाँ तड़कने को हो आईं। वह लाला से यह पूछने ही वाला था कि यह क्या है, तभी बड़े कष्ट से हाथ की लकड़ी पर सारा ज़ोर देकर वह उठ खड़ा हुआ''''और घिसटता-सा जहाँ से आया था उसी गली में चला गया। जाते हुए उलटकर धीरे से उसने किवाड़ बन्द कर दिए। मिस्त्री और चौकीदार ने मुक्त होकर बदन ढीला किया, एक-दूसरे की ओर मुस्कराकर देखा

सँवारा और फिर एक बार खुलकर मुस्कराये। लाला का पीछा करती गोविन्द की निगाह अब उन लोगों की ओर मुड़ गई। और जब उससे नहीं रहा गया तो वह खड़ा हो गया। मुर्ग़े के पंखों की तरह कम्बल को बांहों पर फड़फड़ाकर उसने लपेटा और उस पत्रिका को देखता हुआ चबूतरे से नीचे उतर आया। थोड़ी देर यों ही असमंजस में खड़ा रहा, फिर उस गलियारे के दरवाज़े तक गया कि कुछ दिखाई-सुनाई दे। कोलाहल में चार-पांच आवाज़ें एक साथ किवाड़ की दरार से घुटी-घुटी सुनाई दीं और उसमें सबसे तेज़ आवाज़ वही थी जिसे उसने लक्ष्मी की आवाज़ रखा था। हे भगवान्, क्या हो गया ? कोई कहीं से गिर पड़ा, आग लग गई, सांप-बिच्छू ने काट लिया ? लेकिन जिस तरह ये लोग बैठे देख रहे थे, उससे तो ऐसा लगता था जैसे यह कोई ख़ास बात नहीं है। यह कम्बख़्त किवाड़ क्यों बन्द कर गया ? इस वक्त टट्टर इस तरह धमाधम बज रहा था, जैसे उस पर कोई ताण्डव कर रहा हो। उस ऊँची, चीख़ती महीन आवाज़ में वह नारी-कण्ठ, जिसे वह लक्ष्मी की आवाज़ समझता था, इतना तेज़ और ज़ोर से बोल रहा था कि लाख कोशिश करने पर भी वह कुछ नहीं समझ सका।

"परेशान क्यों हो रहे हो, बाबूजी ?" चौकीदार की आवाज़ सुनकर वह एकदम सीधा खड़ा हो गया। मुस्कराता हुआ वह कह रहा था, "आज चंडी चेत रही है !" उसकी इस बात पर मिस्त्री हँसा।

गोविन्द बुरी तरह झुँझला उठा। कोई इतनी बड़ी बात, घटना हो रही है और ये बदमाश इस तरह मज़ा लूट रहे हैं ! फिर भी वह अत्यन्त चिन्तित और उत्सुक-सा उधर मुड़ा।

इस बड़े कमरे या छोटे हॉल में हर चीज़ पर आटे का महीन पाउडर छाया हुआ था। एक ओर आटे में नहाई चक्की, काले पत्थर के बने हाथी की तरह चुपचाप खड़ी थी और उसका पिसे आटे को सँभालने वाला गिलाफ़-सा सूंड की तरह लटका था। उसी की सीध में दूसरी दीवार के नीचे मोटर लगी थी जहाँ से एक चौड़ा पट्टा चक्की

को चलाता था। इतने हिस्से में सुरक्षा के लिए एक रेलिंग लगा दिया था। सामने की दीवार में चिपके लम्बे-चौड़े लाल चौकोर तख़्ते पर एक खोपड़ी और दो हड्डियों के क्रॉस के नीचे 'खतरा' और 'डेंजर' लिखे थे। उसके चबूतरे की बगल में ही छत से जाती जंजीर में एक बड़ी लोहे की तराज़ू, कथाकली की मुद्रा में एक बाँह ऊँची किये लटकी थी, क्योंकि दूसरे पलड़े में मन से लेकर छटाँक तक के बाटों का ढेर लगा था। यद्यपि लाला रूपाराम अक्सर चौकीदार को डाँटते थे कि रात में इसे उतारकर रख दिया कर, लेकिन किसी-किसी दिन आधी रात तक चक्की चलती और दुकान-दफ़्तर वाले तो सुबह पाँच बजे से ही आने लगते। उस समय बरफ जैसी ठण्डी तराज़ू को छूना और टाँगना दिलावरसिंह को अधिक पसन्द नहीं था। वह उसे यह कहकर टाल देता कि लड़ाई में सुबह-ही सुबह काफ़ी ठण्डी बन्दूकें लेकर मार्च और परेड कर लिया, अब क्या ज़िन्दगी-भर ठण्डा लोहा ही छूना उसकी किस्मत में बदा है? इसीलिए वह उसे टँगी ही रहने देता, हालाँकि ठीक बीच में होने के कारण वह जब भी दरवाज़ा खोलने उठता तो खुद ही उससे टकराता-उलझता और रात के एकान्त में फ़ौजी गालियों का स्वगत भाषण करता। पुराना कैलेण्डर, एक ओर पिसाई के लिए भरे अन्न या पिसे आटे के बोरे, कनस्तर, पोटलियाँ और ऊपर चढ़कर अन्न डालने का मज़बूत-सा स्टूल। इस समय दोनों टाँगें, जिनमें कीलदार फ़ुलबूट डटे हुए थे, धरती पर फैलाए चौकीदार मज़े में खाट की पाटी पर झुका बैठा अपना पुराना—पहली लड़ाई के सिपाहीपने की याद—ग्रेटकोट चारों ओर लपेटे शान से बीड़ी धौंक रहा था और धीरे-धीरे सामने बैठे मिस्त्री सलीम से बातें भी करता जा रहा था।

उसके और मिस्त्री के बीच में एक बरोसी जल रही थी; जब कभी ध्यान आ जाता तो पास रखे कोयले-लकड़ी कुछ डाल देता और कभी-कभी अत्यन्त निस्पृहता से हाथ या पाँव उस दिशा में बढ़ाकर गरमी

सोखता। सलीम सिर झुकाए गरम पानी की बाल्टी में ट्यूब डुबा-डुबाकर उनके पंक्चर देखने में व्यस्त था। उसके आसपास दस-बारह काले-लाल ट्यूब, रबर की कतरनें, क़ैंची, पेंच, प्लास, सोल्यूशन, चमड़े की पेटी और एक ओर टायर लटके दस-बारह साइकिल के पहियों का ढेर था। अपने इस सामान से उसने आधे से ज़्यादा कमरा घेर लिया था।

जब गोविन्द उसके पास आया तो वह सिर झुकाए ही हँसता हुआ ट्यूब के पंक्चर को पकड़कर कान में लगी कॉपीइंग पेंसिल को थूक से गीला करते हुए, (हालाँकि ट्यूब पानी से भीगा था और सामने बाल्टी भरा पानी रखा था) निशान लगाता हुआ जवाब दे रहा था, "यह कहा जमादार साहब ने !" फिर एक भौंह को ज़रा तिरछी करके बोला, "लाला कुछ नामा ढीला करे तो''''उसकी लड़की पर जिनका साया है, उसका इलाज तो हम अपने मौलवी बदरुद्दीन साहब से मिनटों में करा दें।"

गोविन्द का माथा ठनका—लाला की किसी लड़की पर क्या कोई देवी आती है ? उसे अपने गाँव की एक ब्राह्मणी विधवा तारा का एकदम ध्यान हो आया। उसे भी जब देवी आती थी तो घर के बरतन उठा-उठाकर फेंकती थी, उसका सारा बदन ऐंठने लगता था, मुँह से झाग जाने लगते थे, गरदन मरोड़ खाने लगती थी, आँखें और जीभ बाहर निकलने लगती थीं। कौन लड़की है लाला की ? लक्ष्मी तो नहीं ? भगवान् करे लक्ष्मी न हो; उसका दिल आशंका से डूबने-सा लगा। उसने सुना, कोलाहल अब लगभग शान्त हो गया था और कहीं दूर से रह-रहकर एक हल्की रोने की आवाज-भर सुनाई देती थी। शायद किसी को दौरा-वौरा ही आ गया है, तभी तो ये लोग निश्चिन्त हैं।

गोविन्द को सुनाकर चौकीदार बोला, "नामा ? तुम भी यार मिस्त्री किसी दिन बेचारे बुड्ढे का हार्ट फेल कराओगे। और बेहा, इस 'जिन' का इलाज तुम्हारे मौलवी के पास नहीं है, समझे ? वह तो हवा ही दूसरी

है। आओ बाबूजी, बैठो।"

चौकीदार ने बैठे-बैठे स्टूल की तरफ इशारा किया। असल में वह गोविन्द को 'बाबूजी' जरूर कहता था, लेकिन उसका विशेष आदर नहीं करता था। एक तो गोविन्द कस्बे से आया था, और उसे शहर में चौकीदारी करते हो चुके थे नकद बीस साल; दूसरे वह फौज में रहा था और कैरो तक घूम आया था—उम्र, अनुभव, तहज़ीब सभी में वह अपने को गोविन्द से ज्यादा ही समझता था। लेकिन गोविन्द को इस समय इस सबका ध्यान नहीं था। उसने स्टूल से टिककर ज़रा सहारा लेते हुए चिन्तित स्वर में पूछा, "क्यों भई, यह शोर-गुल क्या था? क्या हो रहा था?"

मिस्त्री ने सिर उठाकर उसे देखा और चौकीदार की मुस्कराती नज़रों से उसकी आँखें मिलीं। उसने अपनी खिचड़ी मूँछों पर हथेली फेरते हुए कहा, "कुछ नहीं बाबूजी, ऊपर कोई चीज़ किसी बच्चे ने गिरा दी होगी···"

मिस्त्री ने कहा, "जमादार साहब, झूठ क्यों बोलते हो? साफ़-साफ़ क्यों नहीं बता देते? अब इनसे क्या छिपा रहेगा?"

"तू ख़ुद क्यों नहीं बता देता?" चौकीदार ने कहा और जेब से बीड़ी का बंडल निकाल लिया, कागज़ नोचकर आटे की लोई बनाने की तरह उसे ढीला किया, फिर एक बीड़ी निकालकर मिस्त्री की ओर फेंकी। दूसरी को दोनों तरफ से फूँका और जलाने के लिए किसी दहकते कोयले की तलाश में बरोसी में निगाहें घुमाते हुए ज़रा व्यस्तता से बात जारी रखी—"तुझे क्या मालूम नहीं है?"

इन दोनों की चुहल से गोविन्द की झुँझलाहट बढ़ रही थी। उसे लगा ज़रूर ही दाल में काला है, जिसे ये लोग टाल रहे हैं। मिस्त्री जीभ निकाले पंक्चर के स्थान को रेगमाल से घिस रहा था। वह जब भी कोई काम एकाग्र-चित्त से करता तो अपनी जीभ को निकालकर ऊपर के होंठ की तरफ मोड़ लेता था। उसकी चाँद के बीच में उभरते गंज को

देखकर गोविन्द ने सोचा कि गंजापन तो रईसी की निशानी है, लेकिन यह कम्बख्त तो आधी रात में यहाँ पंक्चर जोड़ रहा है। उसने उसी तरह सिर झुकाए ही कहा, "अब मैं बाबूजी को किस्सा बताऊँ या इन ट्यूबों से सिर फोड़ूँ? साले सड़कर हलुआ तो हो गए हैं, पर बदलेगा नहीं। मन तो होता है, सबको उठाकर इस अँगीठी में रख दूँ, होगा सुबह सो देखा जायगा...."

"ये इतने ट्यूब हैं काहे के?" जरा आत्मीयता जताने को गोविन्द ने पूछा—"हालत तो सचमुच इनकी बड़ी खराब हो रही है।"

"आपको नहीं मालूम?" इस बार काम छोड़कर मिस्त्री ने ग़ौर से गोविन्द को देखा—"यह आपके लाला के जो दो दर्जन रिक्शा चलते हैं, उनका कूड़ा है। यह तो होता नहीं कि इतने रिक्शे हैं, रोज टूट-फूट मरम्मत होती ही रहती है; हमेशा के लिए लगा ले एक मिस्त्री; दिन-भर की छुट्टी हुई। सो तो होगा नहीं, ट्यूब-टायर मेरे सिर हैं और बाकी टूट-फूट मिस्त्री अली अहमद ठीक करते हैं।" फिर उसने यूँ ही पूछा, "आप बाबूजी, नये आये हैं?"

"हाँ दो-तीन दिन ही तो हुए हैं। मैं यहाँ पढ़ने आया हूँ।" गोविन्द ने कहा। उसके पेट में खलबलाहट मच रही थी, लेकिन वह नये सिरे से पूछने को सूत्र खोज रहा था।

"तभी तो," मिस्त्री बोला, "तभी तो आप यह सब पूछ रहे हैं। रात को इसका हिसाब रखते हैं न? हाँ, थोड़े दिनों में अपने फ़रजन्द को भी आपसे पढ़वायेगा।" अपने 'फ़रजन्द' शब्द में जो व्यंग्य उसने दिया था उससे खुद ही प्रसन्न होकर मुस्कराते हुए उसने चौकीदार की दी हुई बीड़ी सुलगाई।

"अबे, उन्हें यह सब क्या बताता है? वे तो उसके गाँव से ही आये हैं। उन्हें सब मालूम है।" चौकीदार बोला।

"नहीं, सच मुझे कुछ नहीं मालूम।" गोविन्द ने जरा आश्वासन के स्वर में कहा, "इन लाला के तो पिता ही यहाँ चले आये थे न, सो

हम लोगों को कुछ भी नहीं मालूम; बताइए न, क्या बात है ?" गोविन्द ने आदरपूर्वक जरा खुशामद के लहजे में पूछा।

शायद उसकी जिज्ञासु व्याकुलता से प्रभावित होकर ही मिस्त्री बोला, "अजी कुछ नहीं, लाला की बड़ी लड़की जो है न, उसे मिरगी का दौरा आता है। कोई कहता है, उसे हिस्टेरिया है, पर हमारा तो क़यास यह है कि बाबूजी, दौरा-बौरा कुछ नहीं, उस पर किसी आसेब का साया है....उस बेचारी को तो कुछ होश रहता नहीं।"

"विधवा है ?" जल्दी से बात काटकर गोविन्द धक्-धक् करते दिल से पूछ बैठा—हाय, लक्ष्मी ही न हो !

इस बार पुनः दोनों की निगाहों का आपस में टकराकर मुस्कराना उससे छिपा न रहा। बीड़ी के लम्बे कश के धुएँ को लीलकर इस बार चौकीदार ज़बरदस्ती गम्भीर बनकर बोला, "अजी, इसने उसकी शादी ही कहाँ की है ?"

"नाम क्या है ?" गोविन्द से नहीं रहा गया।

"लक्ष्मी।"

"लक्ष्मी...!" उसके मुँह से निकल गया और जैसे एकदम उसकी सारी शक्ति किसी ने सोख ली हो, जिज्ञासा और उत्तेजना से तना शरीर ढीला पड़ गया।

चौकीदार इस बार अत्यन्त ही रहस्यमय ढंग से हँसा, जैसे कह रहा हो—अच्छा तुम भी जानते हो !

गोविन्द के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठा—उसकी उम्र क्या है ?

लेकिन चौकीदार ने पूछा, "तो सचमुच बाबूजी, आप इनके घर के बारे में कुछ भी नहीं जानते ?"

"नहीं तो भाई, मैंने बताया तो, मैं इनके बारे में कुछ भी क़तई नहीं जानता।" एक तरह आत्म-समर्पण के भाव से गोविन्द बोला।

"लेकिन लक्ष्मी का किस्सा तो सारे शहर में मशहूर है," चौकीदार बोला।

"आप शायद नये आये हैं, यही वजह है।" फिर मिस्त्री की ओर देखकर बोला, "क्यों मिस्त्री साहब, तो बाबूजी को किस्सा बता ही दूँ....."

"अरे लो, यह भी कोई पूछने की बात है ! इसमें छिपाना क्या ? यहाँ रहेंगे तो कभी-न-कभी जान ही जायँगे।"

"अच्छा तो फिर सुन ही लो यार, तुम भी क्या कहोगे..." चौकीदार ने आनन्द में आकर कहना शुरू किया—"आप शायद जानते हैं, यह हमारा लाला शहर का मशहूर कंजूस और मशहूर रईस है...।"

"लामुहाला जो कंजूस होगा वह रईस तो होगा ही।" मिस्त्री बोला।

"नहीं मिस्त्री साहब, पूरा किस्सा सुनना हो तो बीच में मत टोको।" चौकीदार इस हस्तक्षेप पर नाराज़ हो गया।

"अच्छा-अच्छा सुनाओ।" मिस्त्री बुड्ढों की तरह मुस्कराया।

"इसकी यह चक्की है न, सहालगों में इस पर हज़ारों मन पिसता है, वैसे भी दो-ढाई सौ मन तो कम-से-कम पिसता ही है रोज़। अफसरों और क्लर्कों को कुछ खिला-पिलाकर लड़ाई के जमाने में इसे मिलटरी के कुछ ठेके मिल ही जाते थे। आप जानो, मिलटरी का ठेका तो जिसके पास आया सो बना। आप उन दिनों देखते 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' के हल्ले। बोरे यों चुने रखे रहते थे जैसे मोरचे के लिए बालू भर-भरकर रख दिए हों। उसमें इसने खूब रुपया पीटा, मिलटरी के गेहूँ बेच दिए औने-पौने भाव, और रद्दी सस्ते वाले खरीदकर कोटा पूरा किया, उसमें खड़िया मिला दी। पिसाई के उलटे-सीधे पैसे तो इसने मारे ही, ब्लैक, चार-सौ बीसी, चोरी—क्या-क्या इसने नहीं किया। इसके अलावा, एक बहुत बड़ी साबुन की फैक्ट्री और एक काफ़ी बड़ा जूतों का कारखाना भी इसका है। उसे इसके बेटे सँभालते हैं। पच्चीस-तीस रिक्शे और पाँच मोटर-ट्रक चलते हैं। दस-बारह से ज्यादा इसके मकान हैं, जिनका किराया आता है। रुपये सूद पर देता है। शायद गाँव में भी काफ़ी ज़मीन इसने ले रखी है। एक काम है

साले का ! इतना तो हमें पता है, बाक़ी इसकी असली आमदनी तो कोई भी नहीं जानता, कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। भगवान् ही जाने ! रात-दिन किसी-न-किसी तिकड़म में लगा ही रहता है। करोड़ों का आसामी है। और सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि यह सब सिर्फ़ इसी पच्चीस-छब्बीस साल में जमा की हुई रक़म है।" चौकीदार दिलावरसिंह मिलटरी में रह आने के कारण खूब बातूनी था और मोरचे के, अपने अफसरों के क़िस्सों को, अपनी बहादुरी के कारनामों को खूब नमक-मिर्च लगाकर इतनी बार सुना चुका था कि उसे कहानी सुनाने का मुहावरा हो गया था। हर बात के उतार-चढ़ाव के साथ उसकी आँखें और चेहरे की भंगिमाएँ बदलती रहती थीं।

उसकी बातें ग़ौर और रुचि से सुनते हुए भी गोविन्द के मन में एक बात टकराई—लक्ष्मी को दौरे आते हैं, कहीं ऐसा तो नहीं कि उसने जो यह निशान लगाकर भेजे हैं, ये भी दौरों की दशा में ही लगाए हों और उनका कोई विशेष गहरा अर्थ न हो। इस बात से सचमुच उसे बड़ी निराशा हुई, फिर भी उसने ऊपर से आश्चर्य प्रकट करके पूछा —"सिर्फ पच्चीस-छब्बीस साल ?"

नई बीड़ी जलाते हुए चौकीदार ने ज़रा ज़ोर से सिर हिलाया। गोविन्द ने सोचा, 'और लक्ष्मी की उम्र क्या होगी ?'

"और कंजूसी की तो हद आपने देख ही ली होगी ! बुड्ढा हो गया है, साँस का रोग हो रहा है, सारा बदन काँपता है, लेकिन एक पैसे का भी फ़ायदा देखेगा तो दस मील धूप में हाँफता हुआ पैदल जायगा, क्या मजाल जो सवारी कर ले ! गरमी आई तो पूरा शरीर नंगा; कमर में धोती—आधी पहने, आधी बदन में लपेटे। जाड़ा हुआ तो यही ड्रैस, बस इसी में पिछले दस साल से तो मैं देख रहा हूँ। कभी किसी मकान की मरम्मत न कराना, सफेदी-सफाई न कराना और हमेशा यही ध्यान रखना कि कौन कितनी बिजली खर्च कर रहा है, कहाँ बेकार नल या पंखा चल रहा है। लड़का है सो उसे मुफ़्त के चुङ्गी के स्कूल

में डाल दिया है; लड़की घर पर बिठा रखी है। एक-एक पैसे के लिए घण्टों रिक्शावालों-ट्रकवालों से लड़ना, बहसें करना, और चक्की वालों की नाक में दम रखना, उन्हें दिन-रात यह सिखाना कि किस चालाकी से आटा बचाया जा सकता है। बीसियों रुपये का आटा रोज़ होटलवालों को बिकता है, सो अलग। जिस दिन से चक्की खुली है, घर के लिए आटा बाज़ार से आया ही नहीं। आप विश्वास मानिए, कम-से-क़म बारह-पन्द्रह हज़ार की आमदनी होगी इसकी, लेकिन सूरत देखिए, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं। किसी आने-जाने वाले के लिए एक कुरसी तक नहीं, पान-सुपारी की तो बात ही दूर है। कौन कह देगा कि यह पैसे वाला है? यह उम्र होने आई, सुबह से शाम तक बस, पैसे के पीछे हाय-हाय! दुनिया के किसी और काम से इसे मतलब ही नहीं है। सभा हो, सोसाइटी हो, हड़ताल हो, छुट्टी हो, कुछ भी हो—लेकिन लाला रूपाराम अपनी ही धुन में मस्त! नौकरों को कम-से-कम देना पड़े, इसलिए खुद ही उनके काम को देखता है। मुझसे तो कुछ इसलिए नहीं कहता कि मुझ पर थोड़ा विश्वास है; दूसरे मेरी ज़रूरत सबसे बड़ी है। लेकिन बाक़ी हर नौकर रोता है इसके नाम को। और मज़ा यह कि सब जानते हैं कि झक्की है। कोई इसकी बात को ध्यान से सुनता नहीं। बाद में सब इसका नुक्सान करते हैं, आस-पास के सभी हँसते और गालियाँ देते हैं…"

"बच्चे कितने हैं…?" चौकीदार को इन बेकार की बातों में बहकता देखकर गोविन्द ने सवाल किया।

"इसी बात पर आता हूँ," चौकीदार इत्मीनान से बोला, "सच बाबूजी, मैं यह देख-देखकर हैरान हूँ कि इस उम्र तक तो इसने यह दौलत जुटाई है, अब इसका यह कम्बख़्त करेगा क्या? लोग जमा करते हैं कि बैठकर भोगें; लेकिन यह राक्षस तो जमा करने में ही लगा रहता है। इसे जमा करने की ही ऐसी हाय-हाय रही है कि दौलत किसलिए जमा की जाती है, इस बात को यह बेचारा बिलकुल भूल गया है।" फिर

बड़े चिन्तित और दार्शनिक मूड में दिलावरसिंह ने आग वाली राख को देखते हुए कहा, "इस उम्र तक तो इसे जोड़ने की ऐसी हवस है, अब इसका यह भोग कब करेगा? सचमुच बाबूजी, जब मैं कभी सोचता हूँ तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। देखो, आज की तारीख तक यह बेचारा भाग-दौड़कर, लू-धूप की चिन्ता छोड़कर, जमा कर रहा है। एक पाई उसमें से खा नहीं सकता, जैसे किसी दूसरे का हो। अब मान लीजिए, कल यह मर जाता है तो यह सब किसके लिए जमा किया गया? बेचारे के साथ कैसी लाचारी है, मरकर-जीकर, नौकर की तरह जमा किये जा रहा है, न खुद खा सकता है, न देख सकता है कि कोई दूसरा छू भी ले—जैसे धन के ऊपर बैठा साँप, खुद उसे खा नहीं सकता, खाने तो खैर देगा ही क्या? उसकी रखवाली करना और जोड़ना····" और लाला रूपाराम के प्रति दया से अभिभूत होकर चौकीदार ने एक गहरी साँस ली। फिर दूसरे क्षण दाँत किटकिटाता हुआ बोला, "और कभी-कभी मन होता है छुरा लेकर साले की छाती पर जा चढ़ूँ, और मुरब्बे के आम की तरह गोदूँ। अपने पेट में जो इसने इतना धन भर रखा है, उसकी एक-एक पाई उगलवा लूँ। चाहे खुद न खाये, लेकिन जिसे अपने बच्चों को भी खिला-पिला नहीं सकता, उस धन का क्या होगा?

"इसके बच्चे कितने हैं···?" इस बार फिर गोविन्द अधीर हो आया। असल में वह चाहता था कि इन दार्शनिक उद्गारों को छोड़कर वह जल्दी-से-जल्दी मूल विषय पर आ जाय—लक्ष्मी के विषय में बताए।

वर्णन में बह जाने की अपनी कमजोरी पर चौकीदार मुस्कराया और बोला—"इसके बच्चे हैं चार; बीबी मर गई, बाकी किसी नाते-रिश्तेदार को झाँकने नहीं देता। ऊपर कोई नौकर भी नहीं है। बस, एक मरी-मराई-सी बुढ़िया पाल ली है, लोग बड़े भाई की बीबी बताते हैं, बस, वही सारी देखभाल करती है। और तो किसी को मैंने साथ देखा नहीं। खुद, तीन लड़के और एक लड़की····।"

"बड़े दो लड़के तो साथ नहीं रहते⋯⋯" इस बार मिस्त्री बोला।

"हाँ, वे लोग अलग ही रहते हैं। दिन में एकाध चक्कर लगा जाते हैं। एक जूतों का कारख़ाना देखता है, दूसरा साबुन की फैक्ट्री सँभालता है। इस साले को उन पर भी विश्वास नहीं है। पूरे कागज़-पत्तर, हिसाब-किताब अपने पास ही रखता है; नियम से शाम को वहाँ जाता है वसूली करने। लेकिन लड़के भी बड़े तेज़ हैं, ज़रा शौकीन तबीयत पाई है। इसके मरते ही देख लेना मिस्त्री, वे इसकी सारी कंजूसी निकाल डालेंगे।" फिर याद करके बोला, "और क्या कहा तुमने? साथ रहने की बात, सो भैया, जब तक अकेले थे, तब तक तो कोई बात ही नहीं थी; लेकिन अब तो उनकी बीवियाँ आ गई हैं न, एकाध बच्चा भी आ गया है घर में, सो उसे दिन-भर गोदी में लटकाए फिरता है। इसके घर में एक चण्डी जो है न, उसके साथ सबका निभाव नहीं हो सकता।"

एकदम गोविन्द के मन में आया—लक्ष्मी! और वह ऊपर से नीचे तक सिहर उठा। "कौन? लक्ष्मी!" उसके मुँह से निकल गया।

"जी हाँ, उसी की बदौलत तो यह सारा खेल है, वही तो इस भण्डारे की चाबी है। वह न होती तो यह सब ताम-झाम आता कहाँ से? उसने तो इसके दिन ही पलट दिए, नहीं तो था क्या इसके पास?" इस बार यह बात चौकीदार ने ऐसे लटके से कही, जैसे सचमुच किसी रहस्य की चाबी दे दी हो।

"कैसे भाई, कैसे?" गोविन्द पूछ बैठा। उसका दिमाग़ चकरा गया। यह क्या विरोधाभास है? एक पल को उसके दिमाग़ में आया—कहीं यह रुपया कमाने के लिए तो लक्ष्मी का उपयोग नहीं करता? राक्षस! चाण्डाल!

उसकी व्याकुलता पर चौकीदार फिर मुस्कराया, बोला—"बाप तो इनका ऐसा रईस था भी नहीं, फिर वह कच्ची गृहस्थी छोड़कर मर गया था। ज़्यादा-से-ज़्यादा हज़ार-हज़ार रुपया दोनों भाइयों के पल्ले पड़ा

होगा। शादियाँ दोनों की हो चुकी थीं। कुछ कारबार खोलने के विचार से यह सट्टे में अपने रुपये दूने-चौगुने करने जो पहुँचा तो सारे गँवा आया। बड़े भैया रोचूराम ने एक पनचक्की खोल डाली। पहले तो उसकी भी हालत डांवाडोल रही थी; लेकिन सुनते हैं कि जब से उसकी लड़की गौरी पैदा हुई, उसकी हालत सँभलती ही चली गई। यह उसी के यहाँ काम करता था, मियाँ-बीवी वहीं पड़े रहते। ऐसा कुछ उस लड़की का पाँव आया कि लाला रोचूराम सचमुच के लाला हो गए। इन लोगों के बड़े-बूढ़ों का कहना था कि लड़की उनके खानदान में भागवान होती है। अब तो यह अपना लाला कभी इस ओझा के पास जा, कभी उस पीर के पास जा, कभी इसकी 'मानता', कभी उसका 'संकल्प'—दिन-रात बस यही कि हे भगवान्, मेरे लड़की हो, और पता नहीं कैसे, भगवान् ने सुन ली और लड़की ही आई। आप विश्वास नहीं करेंगे, फिर तो सचमुच ही रूपाराम के नक़्शे बदलने लगे। पता नहीं गड़ा हुआ मिला या छप्पर फाड़कर मिला, लाला रूपाराम के सितारे फिर गए····। इसे विश्वास होने लगा कि यह सब इसी की कृपा है और वास्तव में यह कोई देवी है। इसने उसका नाम लक्ष्मी रखा और साहब, कहना पड़ेगा कि लक्ष्मी सचमुच लक्ष्मी ही बनकर आई। थोड़े दिन में ही 'लक्ष्मी फ़्लोर मिल' अलग बन गई। अब तो इसका यह हाल कि मिट्टी भी छू दे तो सोना बन जाय और कंकड़ को उठा ले तो हीरा दीखे। फिर आ गई लड़ाई और इसके पंजे-छक्के हो गए। इसे ठेके मिलने लगे। समझिए, एक के बाद एक मकान खरीदे जाने लगे, सामान लाने-ले जाने वाले ट्रक आये। इधर रोचूराम भी फल रहा था, और दोनों भाई गर्व से कहते थे—'हमारे यहाँ लड़कियाँ लक्ष्मी बनकर ही आती हैं।' लेकिन फिर एक ऐसा वाक़या हो गया कि तस्वीर की शक्ल बदल गई···" चौकीदार दिलावरसिंह जानता था कि यह उसकी कहानी का क्लाइमैक्स है। इसलिए श्रोताओं की उत्सुकता को झटका देने के लिए उसने उँगलियों में दबी, व्यर्थ जलती बीड़ी को

दो-तीन कश लगाकर खत्म किया और बोला :

"गौरी शादी लायक हो गई थी। शायद किसी पड़ोसी लड़के को लेकर कुछ ऐसी-वैसी बातें भी लाला रोधूराम ने सुनीं। लोगों ने भी उँगलियाँ उठाना शुरू कर दिया तो उन्होंने गौरी की शादी कर दी। बस, उसकी शादी होना था कि जैसे एकदम सारा खेल उखड़ गया। उसके जाते ही लाला एक बहुत बड़ा मुकद्दमा हार गया और भगवान् की लीला देखिए, उन्हीं दिनों उसकी पनचक्की में आग लग गई। कुछ लोगों का कहना तो यह है कि किसी दुश्मन का काम था। जो भी हो, बड़े हाथी की तरह जो इकबारगी गिरे तो उठना दुश्वार हो गया। लोग रुपये दाब गए और उनका दिवाला निकल गया। दिवाला क्या जी, एक तरह से बिलकुल मटियामेट हो गए। सब-कुछ चौपट हो गया और छल्ला-छल्ला तक बिक गया। एक दिन लालाजी की लाश तालाब में फूली हुई मिली। अब तो हमारे लाला रूपाराम को साँप सूँघ गया, उनके कान खड़े हुए और लक्ष्मी पर पहरा बिठा दिया गया। उसे स्कूल से उठा लिया गया। और वह दिन सो आज का दिन, बेचारी नीचे नहीं उतरी। घर के भीतर न किसी को आने देता है, न जाने देता है। मास्टर रखकर पढ़ाई की बात पहले उठी थी, लेकिन जब सुना कि मास्टर लोग लड़कियों को बहकाकर भगा ले जाते हैं तो वह विचार एकदम छोड़ दिया गया। लक्ष्मी खूब रोई-पीटी, लेकिन इस राक्षस ने उसे भेजा ही नहीं। सुनते हैं लड़की देखने-दिखाने लायक···"

बात काटकर मिस्त्री बोला, "अरे देखने-दिखाने लायक क्या, हमने खुद देखा है। जिधर से निकल जाती उधर बिजली-सी कौंध जाती। सौ में एक····।"

उसकी बात का विरोध न करके, अर्थात् स्वीकार करके चौकीदार बोला, "स्कूल में भी सुनते हैं बड़ी तारीफ़ थी, लेकिन सबका साले ने रेड़ कर दी। उसे यह विश्वास हो गया कि यह लड़की सचमुच लक्ष्मी है और जब वह दूसरे की हो जायगी तो एकदम इसका भी

सत्यानाश हो जायगा। इसी डर से न तो किसी को आने-जाने देता है और न उसकी शादी करता है। उसकी हर बात पर पुलिस के सिपाही की तरह नज़र रखता है। उसकी हर बात मानता है, बुरी तरह उसकी इज्ज़त करता है; उसकी हर ज़िद पूरी करता है, लेकिन निकलने नहीं देता। लक्ष्मी सोलह की हुई, सत्रह की हुई, अठारह, उन्नीस''''साल पर साल बीत गए। पहले तो वह सबसे लड़ती थी। बड़ी चिड़चिड़ी और ज़िद्दी हो गई थी। कभी-कभी सबको गाली देती और मार भी बैठती थी, फिर तो मालूम नहीं क्या हुआ कि घण्टों रात-रात-भर पड़ी ज़ोर-ज़ोर से रोती रहती, फिर धीरे-धीरे उसे दौरा पड़ने लगता''''"

"अब क्या उम्र है ?" गोविन्द ने बीच में पूछा।

"उसकी ठीक उम्र तो किसी को भी पता नहीं, लेकिन अन्दाज़ से पच्चीस-छब्बीस से कम क्या होगी ?" घृणा से होंठ टेढ़े करके चौकीदार ने अपनी बात जारी रखी, "दौरा न पड़े तो बेचारी जवान लड़की क्या करे ? उधर पिछले पाँच-छः साल से तो यह हाल है कि दौरे में घंटे-दो घंटे वह बिलकुल पागल हो जाती है। उछलती-कूदती है, बुरी-बुरी गालियाँ देती है, बेमतलब रोती-हँसती है, चीज़ें उठा-उठाकर इधर-उधर फेंकती है। जो चीज़ सामने होती है उसे तोड़-फोड़ देती है। जो हाथ में आता है उससे मार-पीट शुरू कर देती है, और सारे कपड़े उतारकर फेंक देती है। बिलकुल नंगी हो जाती है और जाँघें और छाती पीट-पीटकर बाप से कहती है...'ले, तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग'''!' यह पिटता है, गालियाँ खाता है; और सब-कुछ करता है, लेकिन पहरे में ज़रा ढील नहीं होने देता। चुपचाप सिर पर हाथ रखकर बैठा-बैठा सुनता रहता है। क्या जिन्दगी है बेचारी की ? बाप है सो उसे भोग नहीं सकता और छोड़ तो सकता ही नहीं। मेरी तो उम्र नहीं रही, वरना कभी मन होता है ले जाऊँ भगाकर, जो होगा सो देखा जायगा'''।" और एक तीखी व्यथा से मुस्कराता हुआ चौकीदार देर तक आग को देखता रहा, फिर धीरे से

होंठ चबाकर बोला, "इसकी तो बोटी-बोटी गरम लोहे से दाग़ी जाय और फिर टिकटी बाँधकर गोली से उड़ा दिया जाय।"

गोविन्द का भी दिल भारी हो आया था। उसने देखा, बुड्ढे चौकीदार की गीली आँखों में सामने की बरोसी की धुँधली आग की परछाईं झलमला रही है।

आधी रात को अपनी कोठरी में लेटे, लक्ष्मी के बारे में सोचते हुए मोमबत्ती की रोशनी में उसकी सारी बातों का एक-एक चित्र उसकी आँखों के आगे साकार हो आया और फिर उसने अन्धकार की प्राचीरों से घिरी, गरम-गरम आँसू बहाती मोमबत्ती की धुँधली रोशनी में रेखांकित पंक्तियाँ पढ़ीं :

"मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ।"

"मुझे यहाँ से भगा ले चलो···।"

"मैं फाँसी लगाकर मर जाऊँगी···।"

गोविन्द के मन में अपने-आप एक सवाल उठा—क्या मैं ही पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर ऐसा व्याकुल हो उठा हूँ, या औरों ने भी इस आवाज़ को सुना है और सुनकर अनसुना कर दिया है····? और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज़ को सुनकर अनसुना किया जा सकता है ?